विद्यापति-पदावली

में

लोक-संस्कृति का चित्रण

प्रणेता

डॉ० प्रमोदकुमार सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०,

व्याख्याता, हिन्दी-विभाग,

लंगट सिंह महाविद्यालय (बिहार विश्वविद्यालय),

मुजफ्फरपुर।

प्रकाशक

कल्पना-तीर्थ

दलसिंह सराय

१९७८

प्रकाशक—
कला-तीर्थ [illegible],
[illegible]—[illegible] ।

स्वत्वाधिकारी—लेखक ।

मुद्रक—
ज्ञानोदय प्रेस, मुजफ्फरपुर ।

मूल्य—
साधारण संस्करण—३ ०० रुपये ।
विशेष संस्करण १० ०० रुपये ।

—समर्पण—

पूज्य पिता

श्री वैद्यनाथ सिंह को,

जिनके ममत्व का संबल पाकर ही

मैं टूट नहीं सका।

—विनीत

प्रमोद

पुरोवचन

'विद्यापति-पदावली में लोक-संस्कृति का चित्रण'—विद्यापति-[illegible] [illegible] है जिसमें [illegible] के बहुविध [illegible] [illegible] करके इनकी [illegible] की [illegible] किया गया है। [illegible] विद्यापति-पदावली के [illegible] [illegible] और [illegible] के क्रम में इन्हें [illegible] [illegible] करके इनकी [illegible] [illegible] के विविध [illegible] का [illegible] है परन्तु प्रस्तुत पुस्तक में उनकी लोकाश्रित [illegible] की [illegible] का विवेचन करके उनके [illegible] कवि-व्यक्तित्व की [illegible] की गई है।

[illegible] [illegible] संस्कृति के [illegible] प्रतिनिधि विद्यापति प्रकृत्या [illegible] [illegible] प्रवक्ता हैं। [illegible] संस्कृति के कृत्रिम [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] सुरभि को नहीं बिसार सकने [illegible] इनके [illegible] कवित्व के [illegible] का सम्यक् मूल्यांकन हो, प्रस्तुत पुस्तक का [illegible] है। [illegible] के [illegible] चित्रों के वैविध्य से खचित इनके [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible]-[illegible] एवं मूल्यों का [illegible] [illegible] होता है। [illegible] चित्रों में भी वे [illegible] अभिप्रायों का [illegible] करके [illegible] [illegible] की कृत्रिमता एवं अलंकार-प्रियता को लोक-[illegible] की [illegible] [illegible] में [illegible] एवं [illegible] स्वरूप प्रदान करते हैं जिसमें इनके [illegible] व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा होती है।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जिस तरह [illegible] के [illegible] में [illegible] और [illegible] के चित्र [illegible] रहते हैं उसी तरह पदावली के लोक-[illegible] चित्रों में [illegible] लोक-जीवन के अनेकमुखी [illegible] के [illegible] कवि की [illegible] प्रतिभा की छवि-छाया के [illegible] [illegible] भी प्रतिबिंबित [illegible] रहते हैं। विद्यापति के लोक-[illegible] [illegible] [illegible] को प्रस्तुत [illegible] में जीवन और [illegible]—[illegible] और [illegible]—के [illegible] [illegible] का [illegible] करने का प्रयास किया गया है।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] विद्यापति के गीतों में लोक-[illegible] के चित्रों [illegible] [illegible] उचित हुआ है [illegible] में [illegible]

स्थान कल्पनाशील काव्य-प्रतिभा के द्वारा सत्याभास बिंबों और प्रतीकों में जो सर्वोपयोगिता प्राप्त होती है उसमें कवि के महत्तम हृदय के शुद्ध और भास्वर स्वरूप के दर्शन होते हैं [illegible] काव्यों की नहीं [illegible] में [illegible] होती है।

लोक-संस्कृति [illegible] के विराट स्वरूप का भी [illegible] है।

विद्यापति के पूर्ववर्ती अद्दहमाण [illegible] के [illegible] बड़ों की महत्ता में छोटों के कुंठित होने का [illegible] नहीं है —

जइ तरुअरु मे [illegible]
[illegible] सुविणी कहंपि ॥
[illegible]
[illegible] ॥

—(सन्देशरासक, २।१२६-१२[illegible])

'सूर्यअर' [illegible] 'कमल' [illegible] 'दुविनी' [illegible] सैकड़ों वर्षों के बाद [illegible] होता है तब वे गुलाब [illegible] कुकुरमुत्ता का महत्वांकन करते हैं।

विद्यापति यद्यपि 'सन्देशरासक' के कवि की तरह कमल के 'बरोह' में बाड़ों की सीढ़ी की समानता का आविष्कार [illegible] का सचेत प्रयत्न नहीं करते हैं किन्तु वे भी अद्दहमाण की तरह ही छोटे और तुच्छ पदार्थों के प्रति कवि-जनोचित आत्मीयता का अनुभव करते हैं। सन्देशरासककार सिद्धान्ततः यह स्थापित करते हैं कि बड़ों के सामने छोटों के हतप्रभ होने का कोई कारण नहीं है, किन्तु लोक-जीवन की क्षुद्र-से-क्षुद्र वस्तु के प्रति विद्यापति 'महत्ता' के आतंक से मुक्त और लघुता के प्रति ममता से युक्त अपने कवि-हृदय को व्यावहारिक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।

यह ठीक है कि विद्यापति अद्दहमाण की तरह स्पष्ट शब्दों में 'दुविनी' और 'गामगोहिल्लो' का ——— नहीं करते हैं किन्तु उनकी लोकधर्मिता

ग्रामीण जीवन के छुद्र, छोटे उपेक्षित और विस्मृत चित्रों को बटोरने में जिस उत्साह का परिचय देते हैं उससे लोक-संस्कृति के प्रति उनकी गहन आस्था से उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का भी प्रकटीकरण होता है। प्रारम्भ में सुमित्रा-नन्दन पन्त में भी इसी क्रान्तिकारिता के दर्शन होते हैं कि जब उन्हें विद्यापति की ही तरह धरती का मनुज कुत्सित अर्द्ध मानव पशु सुन्दर प्रतीत होता है तथा धोबी के नृत्य, किसान के खेतों पिछड़े की चमकीली रातों, चमार आदि 'अछूत' जातियों और उनकी रचनाओं के ध्यान जाने लगते हैं।

विद्यापति में जनता-जीवन की मौलिक प्रवृत्ति तो है किन्तु उनमें आधुनिक प्रगतिवादियों और मानवतावादियों के उस दृष्टिकोण का अभाव है कि ईश्वर की सर्वशक्ति के सिंहासन से हटाकर उन असंख्य उपेक्षित मानवों को उनका स्थान दिया जाए, तथा ईश्वर की प्रस्तर-प्रतिमा के स्थान पर मानव की पूजाई समझने का प्रयत्न है—

तुम बहुत बड़ा हो चाँद सुना तुम पर भूमण्डल सारा,
चाहिए किन्तु मेरे दृग को कोई नन्हा-सा तारा।

—श्री कलक्टर सिंह 'केसरी'

× × ×

चीख उठा मन्दिर की कारा में बन्दी भगवान,
तोड़ने आये जो पत्थर की जगह नया इन्सान।

—श्री श्यामनन्दन किशोर

विद्यापति के सामन्तयुगीन कवित्व में लघुता-पूजन के इस आधुनिक स्वर का नहीं रहना उचित और इतिहास-सम्मत ही है क्योंकि मध्यकालीन सामन्तीय जीवन-मूल्यों के साहित्यकार से 'होरी' और 'बलचनमा' के नायकत्व की सिद्धि की प्रत्याशा नहीं की जा सकती है। परन्तु, लोक-संस्कृति के कलाकार विद्यापति की प्रगतिशील प्रतिभा लघुता-पूजन नहीं लघुता-चित्रण में ही अपनी मानवीय सहानुभूति और साहित्यिक न्याय-भावना को अभिव्यक्ति देकर स्मरणीय प्रमाणित होता है, यह मेरी सुनिश्चित धारणा है।

हिन्दी-विभाग,
लंगट सिंह महाविद्यालय,
(बिहार विश्वविद्यालय)
मुजफ्फरपुर।

प्रभात कुमार सिंह,
तिथि २-२-१९७०।

विषयानुक्रम

प्रतिभा जीवन के क्षुद्र, छोटे, उपेक्षित और विस्मृत बिम्बों को बटोरने में जिस उत्साह का परिचय देती है उससे लोक-संस्कृति के प्रति उनकी गहन आस्था से उत्पन्न प्रगतिशील मूल्यों का ही प्रकटीकरण होता है। कालांतर में सुमित्रा-नन्दन पन्त में भी इसी प्रगतिशीलता के दर्शन होते हैं, कि जब उन्हें विद्यापति की ही तरह धरती का तुच्छ कूड़ा-कर्कट सार्थक एवं सुन्दर प्रतीत होता है तथा घासों के बच्चे, सिगरेट के खाली डिब्बे की चमकीली पन्नी, चमार आदि 'अछूत' विषय भी उनकी रचनाओं में स्थान पाने लगते हैं।

विद्यापति में 'लघुता'-चित्रण की मौलिक प्रवृत्ति तो है किन्तु उनमें आधुनिक प्रगतिवादियों और मानववादियों के इस 'दृष्टिकोण' का अभाव है कि चाँद को साहित्य के सिंहासन से उतार कर असंख्य उपेक्षित ताराओं को उनका प्राप्य दिया जाए तथा ईश्वर की प्रस्तर-प्रतिमा के स्थान पर मानव को पूजार्ह समझने का प्रयत्न हो—

तुम बहुत बड़े हो चाँद, मुग्ध तुम पर भूमण्डल सारा,
चाहिए किन्तु मेरे दृग को कोई नन्हा-सा तारा।

—श्री कलक्टर सिंह 'केसरी'

× × ×

चीख उठा मन्दिर की कारा में बन्दी भगवान,
पूजित होने दो पत्थर की जगह नया इंसान।

—श्री श्यामनन्दन किशोर

विद्यापति के लोकनिष्ठ कवित्व में लघुता-पूजन के इस आधुनिक स्वर का नहीं रहना उचित और इतिहास-सम्मत ही है क्योंकि मध्यकालीन सामन्तीय जीवन-मूल्यों के साहित्यकार से 'होरी' और 'बलचनमा' के नायकत्व की सिद्धि की प्रत्याशा नहीं की जा सकती है। सुतरां, लोक-संस्कृति के कल्पक विद्यापति की प्रगतिशील प्रतिभा लघुता-पूजन नहीं लघुता-चित्रण में ही अपनी मानवीय सहानुभूति और साहित्यिक न्याय-भावना को अभिव्यक्ति देकर स्तवनीय प्रमाणित होती है, यह मेरी सुनिश्चित धारणा है।

हिन्दी-विभाग,
लंगट सिंह महाविद्यालय,
(बिहार विश्वविद्यालय)
मुजफ्फरपुर।

प्रमोद कुमार सिंह,
तिथि २-२-१९७०।

विषयानुक्रम

पृष्ठ-संख्या

प्रथम अध्याय

काव्य और लोक-निरीक्षण

कवि जीवन का छविकार होता है। जीवन की वास्तविकताओं को जो साहित्यकार जितनी दक्षता से व्यक्त कर सकता है वह उतना ही महान् साहित्यकार कहलाता है। जीवन का आकलन केवल ग्रन्थाध्ययन और शास्त्रावलोकन से ही नहीं होता है। कवियों को अपनी आँखों से लोक-जीवन का भी निरीक्षण करना पड़ता है। निजी लोक-निरीक्षण से ही कवि की जानकारियों में आकुलता आती है। व्यास ने ठीक ही कहा है—"प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।"[1] लोकानुभव से ही मनुष्य सब कुछ जानता है। जीवन के पूर्ण ज्ञान के लिए लोक-ज्ञान अपरिहार्य है। विद्यापति भी लोक-व्यवहार को ही सर्वोपरि स्थान देते हैं—'सब तहँ गुनिअ अधिक बेवहार।' कोरा शास्त्र-ज्ञान विडम्बना पूर्ण ही होता है, अतः कवियों को निजी लोक-निरीक्षण से अपनी प्रतिभाओं के लिए खाद्य जुटाना चाहिए, यह आधुनिक चिन्तकों का ही नहीं प्राचीनों का भी अभिमत है।

काव्य-विषयों का संग्रह साहित्य और शास्त्र के आकरों से ही नहीं होता है अपितु इस दृष्टि से 'लोक' को भी आकर मानना चाहिए। प्राचीन काल से ही कवि लोग 'लोक' का पर्यवेक्षण करके मौलिक अर्थों और अनुच्छिष्ट कल्पनाओं का संग्रह करते रहे हैं। शास्त्रीय काव्य-परम्परा पर लोक-परम्परा का प्रभूत प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। राजशेखर ने भी एक प्रमुख अर्थ-योनि के रूप में 'लोक' का उल्लेख किया है। अन्य काव्य-शास्त्रीय पुस्तकों और कवि-शिक्षा-ग्रन्थों में भी 'लोक-ज्ञान' की आवश्यकता बतलाई गई है। शास्त्रीय व्युत्पत्ति के साथ-साथ 'लोक' की व्युत्पत्ति भी कवियों के लिए अपेक्षित है क्योंकि इससे वर्णन में भ्रांति और प्रमाद का प्रवेश नहीं होता है तथा नए-नए अर्थों का उन्मेष होता है। शास्त्रीय परम्परा की रूढ़ियों से स्वच्छन्द होकर कविगण पुराकाल से ही लोक-प्रचलित उक्तियों, लोक-उपमानों और लोक-जीवन के सहज अछूते चित्रों का सन्निवेश अपनी रचनाओं में करते रहे हैं।

---

१. महाभारत, आदि पर्व १।१०१-२।

भारतीय चिन्तकों ने लोक-परम्परा और वेद-परम्परा तथा लोक और शास्त्र के विभेद को स्वीकार कर रखा है किन्तु ये दोनों एक-दूसरे से संपृक्त और प्रभावित भी होते रहे हैं।

जन समूह को ही 'लोक' कहते हैं। 'जन' या 'लोक' की परिधि में शिक्षित-अशिक्षित सभी प्रकार के मनुष्य आ जाते हैं। कवि इसी 'लोक' के जीवन या उसकी संस्कृति का अध्ययन और व्याख्यान हुआ करता है। कवियों के लिए ही नहीं मनुष्य-मात्र के लिए 'लोक संग्रह' को अपेक्षित कहा गया है।[1] 'लोक' जगत-मात्र का वाचक हुआ और जन-सामान्य के व्यवहारों, आचरणों आदि से ही 'लोक-संग्रह' का सम्बन्ध है।

भारतीय आचार्यों ने यह व्यवस्था दी है कि कवियों को लोक-धर्म का परिचय रहना चाहिए और उस आदेश के पालन स्वरूप भारतीय काव्य-साहित्य लोक-जीवन से अपना प्रेरणा-धारा ग्रहण करता रहा है। लोक-जीवन के सहज चित्र संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और परवर्ती लोक-भाषाओं के साहित्यों में विशाल परिमाण में प्राप्त होते हैं। कवियों के लोक निरीक्षण से प्रसूत इन चित्रों का अध्ययन 'जन संस्कृति' या 'लोक वार्ता' (फोक लोर) की दृष्टि से भी किया जा सकता है।

भारतीय आचार्यों ने जिसे 'लोक' कहा है उसे ही पाश्चात्य चिन्तकों ने 'फोक' कहा है। लोक-जीवन से सम्बद्ध बातों को यूरोपीय पण्डितों ने 'फोक लोर' के अन्तर्गत विवेचित किया है। 'फोक लोर' के लिए हम 'लोक-संस्कृति' शब्द का हिन्दी में प्रयोग कर सकते हैं।[3]

१. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥
—[श्रीमद्भगवद्गीता, ३.२०।]

२. द्रष्टव्य श्रीमद्भगवद्गीता, ३.२१, ३.२२, ३.२४।

३. "डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय के मतानुसार 'फोकलोर' के लिये 'लोक-संस्कृति' शब्द का प्रयोग नितान्त उपयुक्त एवं समीचीन है। लोकसंस्कृति के अन्तर्गत जनजीवन से संबंधित जितने आचार-व्यवहार, विधि-निषेध, विश्वास, प्रथा, परंपरा, धर्म, मूढ़ग्रह, अनुष्ठान आदि हैं वे सभी आते हैं। जैसा आगे विस्तार से बतलाया जायगा, फोकलोर के अन्तर्गत भी ये ही विषय समाविष्ट हैं। अतः 'लोक-संस्कृति' शब्द 'फोकलोर' के व्यापक तथा विस्तृत अर्थ को प्रकाशित करने में सर्वथा समर्थ है। × × कुछ लोग कह सकते हैं लोक संस्कृति शब्द 'फोक-कल्चर' का पर्याय हो सकता है, फोकलोर का नहीं। परन्तु डॉ॰ उपाध्याय के सिद्धान्तानुसार 'फोक-कल्चर' तथा 'फोकलोर' में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों का सीमाएँ एक दूसरे के द्वार को छूती हुई दिखाई पड़ती हैं।"

—['हिन्दी-साहित्य का बृहद् इतिहास', भाग—१६, प्रस्तावना, पृ॰ ११—१२; डॉ॰ कृ॰ दे॰ उपाध्याय।]

अभिजात एवं शास्त्रीय जीवन-विधियों और जनसाधारण के जीवन-प्रवाह में अन्तर देखा जा सकता है। हम स्पष्टतः देखते हैं कि शिष्ट जनों की संस्कृति और लोक-संस्कृति में अन्तर होता है। भारतीय वाङ्मय के अन्तर्गत ऋग्वेद में शिष्ट संस्कृति का आकलन हुआ है और अथर्ववेद में लोक-संस्कृति के विविध रूपों का प्रकाशन प्राप्त होता है। हम शिष्ट और नागर साहित्य की रचनाओं में भी लोक-संस्कृति के अंगों का आनुषंगिकतः चित्रण देख सकते हैं। यह एक प्रमाणित बात है कि भारत में लोक-संस्कृति ने शिष्ट संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया है और भारतीय कवियों ने लौकिक अर्थों का अपनी रचनाओं में यथेच्छ-यथेष्ट ग्रहण करके अपने लोक-ज्ञान का पूरा परिचय दिया है।

इंग्लैंड के विलियम जान टामस या थामस ने सन् १८४६ ई० में 'फोक लोर' शब्द की उद्भावना की थी।[१] "थामस महोदय ने यह शब्द सभ्य जातियों में मिलने वाले असंस्कृत समुदाय की प्रथाओं, रीति-रिवाजों तथा मूढ़ाग्रहों को अभिव्यक्त करने के लिए गढ़ा था।"[२]

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने फोक लोर के सम्बन्ध में स्टिथ थाम्पसन का मत इस प्रकार उपस्थित किया है :—"स्टिथ थाम्पसन ने लिखा है कि फ्रांस और स्कांडिनेविया में यह शब्द परम्परा से चले आते हुए गृह-निर्माण शिल्प, कृषि-विषयक नियम और विश्वास, वस्त्र-वयन कला जैसे उद्योगों के अर्थ में व्यवहृत होता है और इङ्गलैंड में जनता के किसी वर्ग के लिखित या अलिखित परम्परा, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति तथा रसानुभूति के तौर-तरीकों के अर्थ में।"[३]

डॉ० द्विवेदी फोक लोर के लिए लोक साहित्य के अतिरिक्त 'लोक-संस्कृति' जैसे व्यापक शब्द के प्रयोग की सूचना देते हैं।[४]

---

१. द्रष्टव्य 'इनसाइक्लोपीडिया ऑफ फोकलोर', भाग १, पृ० ४०३; मेरिया लाच।

२. द्रष्टव्य 'हिन्दी-साहित्य कोश', पृ० ६६०, दूसरा कॉलम, शीर्षक 'लोकवार्ता'। उपर्युक्त उद्धरण की तुलना 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के इस मत से की जा सकती है कि सभ्यजनों में असंस्कृत वर्ग के लोगों की धारणाओं और प्रथाओं का परंपरागत ज्ञान ही 'फोकलोर' है :—

"...traditional learning of the uncultured classes of civilized nations."—[Encyclopedia Britanica Vol. X. Folk-Lore."]

३. 'विचार और वितर्क', पृ० २०६, निबन्ध—'लोक-साहित्य का अध्ययन'।

४. "परन्तु साधारणतः लोक कथानकों, लोक गीतों, अन्ध विश्वासों, प्रादेशिक निजंधरी कथाओं, लोकोक्तियों और पहेलियों को इस साहित्य का विवेच्य विषय माना जाता है। फ्रांस और स्कैंडिनेविया में जिन परंपरा प्रचलित शिल्पों, कलाओं और उद्योगों को 'फोक-लोर' माना जाता है वे लोक-साहित्य शब्द से सूचित नहीं हो पाते। उनके लिए अपने देश के कई विद्वानों ने 'जन-संस्कृति', 'लोक संस्कृति' जैसे शब्दों का प्रयोग अधिक उचित समझा है।" —('विचार और वितर्क', पृ० २०७)।

'फोक लोर' के अन्तर्गत लोक-परम्परा और लोक-मानस की प्रतिच्छाया से प्रभावित तत्त्वों का ग्रहण होता है। उसके अन्तर्गत समस्त लोक-साहित्य, लोक-कथा, लोक-परम्परा, लोक-विश्वास, लोक-प्रथा आदि बातें आ जाती हैं।[1]

सोफिया बर्न ने भी 'फोक लोर' के विषय-विस्तार का निरूपण करते हुए संपूर्ण लोक-साहित्य, लोकविश्वास एवं अन्धविश्वास तथा रीति-रिवाज और प्रथाओं को उसमें अन्तर्भुक्त माना है।[2] सोफिया बर्न का ही मत सबसे प्रांजल और विशद है :

---

१ "There would seem to be no disagreement about its use to include all kinds of folk-songs, folk-tales, superstitions, local legends, proverbs and riddles"—Dictionary of World Literature, P. 242—43—See]

२ द्रष्टव्य 'दि हैंडबुक आफ फोकलोर' १९१४, द्वितीय सं०, पृ० ४ सोफिया बर्न। डॉ० सत्येन्द्र ने बर्न के वक्तव्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है :—"सोफिया बर्न ने 'फाकलोर' के क्षेत्र विस्तार के संबन्ध में लिखा है कि यह एक जाति बोधक शब्द की भांति प्रतिष्ठित हो गया है जिसके अन्तर्गत पिछड़ी हुई जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों के अवशिष्ट विश्वास, रीतिरिवाज, कहानियां, गीत तथा कहावतें आती हैं। प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत् के सम्बन्ध में भूत प्रेतों की दुनिया तथा उसके साथ मनुष्यों के सम्बन्धों के विषय में, जादू टोना, सम्मोहन, वशीकरण, तावीज, शकुन, रोग तथा मृत्यु के सम्बन्ध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन में रीतिरिवाज तथा अनुष्ठान और त्योहार, युद्ध, आखेट, मत्स्य व्यवसाय, पशुपालन आदि विषयों के भी रीति रिवाज और अनुष्ठान इसमें आते हैं तथा धर्मगाथाएं, अवदान (लीजेंड), लोक कहानियां, बैलेड गीत, किंवदन्तियां, पहेलियां और लोरियां भी इसके विषय हैं। संक्षेप में लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत जो भी वस्तु आ सकती है वे सभी इसके क्षेत्र में हैं। यह किसान के हल की आकृति नहीं है जो लोक संस्कृति के विद्वान् को अपनी ओर आकर्षित करता है प्रत्युत वे उपचार तथा अनुष्ठान हैं जिन्हें किसान हल को भूमि जोतने के काम में लाने के समय करता है; जाल तथा वंशी की बनावट नहीं, बल्कि वे टोने टोटके हैं जिन्हें मछुआ समुद्र के किनारे करता है पुल अथवा किसी भवन का निर्माण नहीं है, प्रत्युत वह बलि है जो उनके निर्माण के समय दी जाती है। लोक संस्कृति वस्तुतः आदिम मानव की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, वह चाहे दर्शन, धर्म, विज्ञान तथा औषधि के क्षेत्र में हुई हो, अथवा सामाजिक संगठन, तथा अनुष्ठानों में अथवा विशेषतः इतिहास, काव्य और साहित्य के अपेक्षाकृत बौद्धिक प्रदेश में सम्पन्न हुई हो।"

—[डॉ० सत्येन्द्र: 'ब्रजलोक-साहित्य का अध्ययन', पृ०—८–९, के आधार पर 'हि० सा० का बृहत् इतिहास, भाग १६, प्रस्तावना, पृ० १३ पर उद्धृत]

द्वितीय अध्याय

विद्यापति का लोक-निरीक्षण और तज्जन्य अर्थ

शिष्ट या अभिजात साहित्य-प्रणेता होकर भी विद्यापति अपनी रचनाओं में अपने लोकानुराग का परिचय देते हैं। विद्यापति-पदावली में मिथिला के स्थानीय चित्रों और आंचलिक वैशिष्ट्यों का प्राचुर्य दृष्टिगत होता है। कवि ने लोक-जीवन के विविध पक्षों से अर्थों का आयात करके अपनी रचनाओं में रूढ़ि-मुक्त स्वच्छन्दतावादी बिम्बों की प्रतिष्ठा की है। लोक-जीवन के प्रति सामन्त कवि विद्यापति की यह गहन निष्ठा निश्चय ही उनकी मौलिकता की विधायिका होने के कारण श्लाघ्य है।

विद्यापति भी कालिदास की ही तरह नागरिक जीवन और लोक-जीवन के युगपत् वर्णन में दक्ष हैं।

(१) लौकिक पेड़-पौधों, लता-गुल्मों, तृणों आदि पर आधारित अर्थ—

(क) ऊँख :—कालिदास लोक-जीवन के मार्मिक चित्रों के संग्राहक और लोक-पर्यवेक्षण में पटु हैं। रघुवंश के एक पद्य में लोकवृत्तान्त-विद् कालिदास प्रकृति का सही रूपांकन करते हुए ऊँख और धान के खेतों का शरद् ऋतु में वर्णन करते हैं। ऊँखों की छाँह में बैठकर धान के खेत की रखवाली करने वाली और रघु का यशोगान गाने वाली स्त्रियों का लोकचित्र रघुवंश में इस तरह आया है :—

> इक्षुच्छायानिषादिन्यः तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
> आकुमारकथोद्घातं शालि गोप्यो जगुर्यशः ॥

कवि कृषक-जीवन का सहज चित्र हमारे सामने लाता है। शरद् ऋतु में धान पक जाते हैं और ऊँख के पौधे भी बड़े हो जाते हैं जिनकी छाँह में धान की रखवाली करनेवाली स्त्रियाँ बैठ कर गीत गा रही हैं, यह लोक-जीवन का अकृत्रिम प्रसंग है। कालिदास ने धान और ऊँख तथा गीत गा-गाकर धान की रखवाली करनेवाली स्त्रियों के चित्र को अपने लोक-निरीक्षण की

शक्ति से साकार-सा कर दिया है। कालिदास का यह अर्थ त्रुटि-रहित और लोक-परक है।

विद्यापति की कल्पना भी ऊँख का लोक-चित्र ले आती है। मिथिला में ऊँख की खेती अभी भी खूब होती है। अपने ही रस से फट पड़ने वाले ऊँख का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करके विद्यापति अपने लोक ज्ञान का परिचय देते हैं। विद्यापति ने ऊँख का पर्यवेक्षण करके उचित ही कहा है कि ऊँख अपने ही रस से फट जाता है।[1] विद्यापति की इस उक्ति का स्रोत स्पष्टतः लौकिक परिवेश ही है।

(ख) चटैल और परवल :—कालिदास की दृष्टि शिलीन्ध्र या कुकुरमुत्ता[2], कीचक[3] या हवा के छेदों से स्वरायमान होते बाँस और वराहों के प्रसंग में मोथा जैसे सामान्य पदार्थ पर भी पड़ी है।[4]

इसी तरह विद्यापति भी लौकिक और घरेलू पदार्थों तथा क्षुद्र लता-गुल्मों का चित्रण करके अपनी लोक-पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचय देते हैं। वे चटैल और परवल का अन्तर समझने वाले कवि हैं —

अबे कि करब मनि झूपब मोर।
चिन्हल चटाइल बोलि परोर।।[5]

प्रस्तुत प्रसंग में नायिका अपनी मति-विभ्रान्ति पर पछताती है कि उसने नकल को असल समझ लिया था। वह चटैल को ही परवल मान बैठी थी

---

१. ऊँखक कपटा बचन पिआर
अपने रसे उकठ कुटिलाए।।
—[दि सांग्स ऑफ विद्यापति, पद—१६०, डॉ० सुभद्र झा, पृ० ६०, वर्ष—१९५४]

२. कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः।
(मेघदूत, पूर्वमेघ ।११।)

३. (क) शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
—(पूर्व मेघ ।५६।)

(ख) यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्।।
—(कुमार सम्भव, १।८।)

४. "विस्रब्धैः क्रियतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले"
—(अभिज्ञान—शाकुन्तलम् २।६।)

५. नगेन्द्रनाथ गुप्त, पद—४११।

[illegible] को यह [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] का [illegible] [illegible] है।

[illegible] कुम्हड़े [illegible] रहते हैं [illegible] कुम्हड़े [illegible] कहती है कि [illegible] [illegible] कुम्हड़ों या महुए [illegible] लेता है तब कन्धे पर लगे हुए कुम्हड़े [illegible] [illegible] हो जाते हैं।

कुम्हड़े के [illegible] [illegible] होते हैं। [illegible] रहने से वे [illegible] हो जाते हैं। कुम्हड़े [illegible] पर रखना और [illegible] को [illegible] कर देता है। [illegible] लोक-चित्र को विद्यापति ने रति-[illegible] नायिका के [illegible] में [illegible] कर दिया है।[1]

विद्यापति ने एकाधिक बार कुम्हड़े के घरेलू चित्र का अंकन किया है। लोक-जीवन के सम्पर्क में रहने वाले विद्यापति [illegible] की [illegible] और उनके फूसके छप्परों से परिचित हैं। वे आँगन में [illegible] जाने वाले और छप्पर पर फैलने वाले महुए से भी पूर्णतः अवगत हैं। फूस के छप्पर पर फैला हुआ महुआ छप्पर को विगलित और जीर्ण कर देता है, यह भी वे जानते हैं। कुम्हड़ों से लदे छप्पर के छप्पर की दुर्दशा उनकी देखी हुई है। राजभवन में रह कर भी वे इस लौकिक चित्र को याद कर सके, यह उनकी लोकनिष्ठा का ज्वलन्त प्रमाण है।[2]

---

1. बिनु कारणे कुन्तल [illegible] आकुल [illegible] [illegible] किछु [illegible] ।
कुमड़ा केरि चोरि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।।

—[[illegible]–२०, पद—[illegible]]

'परिषद्–पदावली' के सम्पादकीय [illegible] से इसका पाठ इस प्रकार है।—
बिनु कारने कुन्तल कइसे आकुल करह [illegible] किछु [illegible] ।
कुमड़ा केरि चोरि भलि [illegible] [illegible] न [illegible] [illegible] ।।

'कुम्हड़ा' [illegible] कुम्हड़ा का [illegible] भी कहते हैं। यह तरकारी और [illegible] बनाने के काम में आता है। लौकी या [illegible] की तरह यह [illegible] में [illegible] जाने वाली सब्जी है। —(लेखक)

2. [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
लयलक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] कुमड़ा मन [illegible] [illegible]

[परिषद् [illegible]]

सन्देशरासक में लोक कवि अद्दहमाण ने भी बाड़ी की तूँबी या लौकी की गर्व पूर्वक चर्चा की है।[१]

विद्यापति ने खर के छप्पर पर पसरने वाले कुम्हड़े और जीर्ण छप्पर का चित्र खींचा है। आँगन का कुम्हड़ा और दरिद्र का विगलित छप्पर ये दोनो ही लौकिक चित्र है। 'पदमावत' के बारहमासा के अन्तर्गत लोक-कवि जायसी ने भी टपकने वाले छप्पर का लौकिक प्रसग उपनिबद्ध किया है। जायसी की रानी नागमती "अपना रानीपन भूल कर" एक सामान्य नारी की तरह कह उठती है :—"पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह मँदिर को छावा ॥"[२]

यदि स्वामी रहते तो वे बरसात मे टपकने वाले छप्पर की मरम्मत करवाते, किन्तु स्वामी के न रहने से बेचारी नागमती सोचती है कि कौन छप्पर को ठीक कराएगा ? महलों में रहने वाली नागमती जिसके पास भृत्यो और व्यवस्थापकों की कमी नही है, एक साधारण गृहिणी की भाँति बरसात में छप्पर को ठीक कराने की बात को लेकर व्यग्र है, यह जायसी की भावप्रवण कल्पना है जो लोक-संस्कृति की रसवर्षा मे स्नात है।

विद्यापति ने खर के छप्पर पर पसरे कुम्हड़े से छप्पर की क्षतिग्रस्तता का संकेत दिया है किन्तु जायसी ने बरसात मे छप्पर को छाने, खपड़ा बदलने आदि के लोकचित्र को प्रस्तुत किया है।

(घ) मूली :—विद्यापति ने अप्रस्तुत-योजना के रूप में मूली का लौकिक चित्र इस प्रकार उपस्थित किया है :—

"मूर माँगल सन कएलह सिनेह।"—[न० गु०, पद—४४९]। इन्होंने एक अन्य पद मे भी जड़ से ही टूट जानेवाली मूली का लोक-उपमान प्रयुक्त करके अपनी स्वच्छंद मनोवृत्ति का परिचय दिया है :—

सखि हे दुरजन दुरनय पाए।
मूरा जञो मूड़ह सञो भाँगल अपदहि गेल सुखाए ॥
—[परिषद-पदावली, पद—१०४]

मैथिली में कुम्हड़ा का लेकर एक लोकोक्ति भी प्रचलित है—"भोज घरी कोंहड़ा रोपब।" —(लेखक)

१. "ता किं वाडिविलग्गा मा निअडउ तुंबिणी कहवि ॥"
—(सन्देशरासक ।१।१४।।)

२. पदमावत, नागमती-वियोग-खण्ड, दोहा ४ के ऊपर, पृ० १२६ आचार्य शुक्ल का संस्करण

(ङ) कुम्भी :—विद्यापति ने पोखरों और डाबरों के ऊपर रहने वाले कुम्भी नामक आच्छादक तृण को उपमान के रूप में प्रयुक्त किया है। कुम्भी का यह बिम्ब उनके लोक-निरीक्षण को प्रमाणित करता है —

कन्हाइक वचन नहि आदि लाग
कुम्भी जल है मेल अनुराग ।

—[नगेन्द्र—पदावली, पद—१३०]

विद्यापति-साहित्य में 'कुम्भी' का उल्लेख इस प्रकार भी मिलता है — "कुम्भी जलकएँ जेहन पिरीति ।"[1]

देहातों में कुम्भी से आच्छादित जलाशयों को आमतौर से देखा जा सकता है। कुम्भी सेवाल की ही जाति का नाज है। इसका और पानी का लगाव ऊपरी ही होता है। यह फल-स्वरूप जलाशय के जल को भ्रष्ट कर देती है।

विद्यापति यह जानते हैं कि पानी के साथ कुम्भी की प्रीति ऊपरी ही नहीं, पानी के व्यक्तित्व की नाशिका भी है।

(च) डाबर की कुई :—विद्यापति ने देहाती डाबरों में होने वाली कुई का व्यंग्यपूर्वक वर्णन किया है :—

झरक पानि डोभक कोई गरब उनजू जाहि ।
भने विद्यापति दहक कमल दूसए चाहए ताहि ॥

— न० गु०, पद—२१६)

मिथिला में डाबरों या गड्ढों के दृश्य अभी भी आमतौर से देखे जा सकते हैं। प्रस्तुत पद में विद्यापति का वक्तव्य है कि डाबर में फूलने वाली कुमुदिनी यदि झील या हृद में पैदा होने वाले कमल की निन्दा करती है तो यह उसका मिथ्या गर्व ही है।

(छ) मधुरी और पाँडुरि :—विद्यापति उपमान के रूप में मधुरी-फूल का व्यवहार करके मिथिला के इस विशेष पुष्प के प्रति अपना अनुराग प्रकट करते हैं।[2] मधुरी नामक लाल फूल मिथिला में बहुत फूलता है और अरुण अधरों के उपमान के रूप में सर्वथा ही उपयुक्त है।

---

१. द्रष्टव्य मिथिला-गीत-संग्रह, भाग ४, पृ० ९।

२. मुख मनोहर अधर रंगे ।
फूललि मधुरी कमल संगे ॥३॥

—(बिनीपुरी, पद—१०)

ओंठ के लिए 'पाँड़रि' का उपमान भी लोक-प्रसूत ही है।[१]

(२) लोक-जीवन के विविध व्यवसायों और कार्य-कलापों पर आधारित अर्थ :—

(क) जुलाहा[२] :—विद्यापति की कल्पना लोक-जीवन के चित्रों का चयन करने में अप्रतिम है। एक पद में विद्यापति वयनजीवी निम्नवर्गीय जुलाहे का बिम्ब उपस्थित करके 'जुलाहा-जाति' और उसकी कार्यावली का जो दृष्टान्त देते हैं वह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है :—

गमने कैन्वे करसि ओज
परेओ परक करए लोज।
काहेक जाति जोलहा जेओ
ओल धरि नहि बुनए सेओ ॥

—(परिषद्—पदावली, पद—८३१)

'फोकलोर' की दृष्टि से जुलाहे की जाति और उसके कार्य का यह निर्देश महत्त्वपूर्ण है।

पद में छोटी जाति वाले बुनकर जुलाहे के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह अन्त तक कपड़े को नहीं बुनता है। विद्यापति का यह लोक-निरीक्षण सत्य ही है कि जुलाहा वस्त्र के छोर को पूरा नहीं बुनता है। कदाचित् यह जुलाहा-जाति का कोई अन्धविश्वासमूलक टोना-टोटका ही है जिसे मैथिली में 'सोम-टोन' कहते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में लोक-धरातल के वस्त्र-उद्योग या दस्तकारी तथा बुनकरों की निम्नजातीयता का उल्लेख मिलता है। इससे सिद्ध है कि विद्यापति के समय में मिथिला में जुलाहे फैले हुए थे और वे नीची जाति के

---

१. सामर बरन, नयन अनुरंजित,
जलद-जोग फुल कोका।
कट-कट बिकट ओठ-पुट पाँड़रि
लिधुर-फेन उठ फोका ॥६॥

—(बेनीपुरी, पद-३)

२. जुलाहा-जाति तत्त्वविशारदों और समाजशास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। सन्देशरासक का कवि अद्दहमाण और विद्यापति के परवर्ती कबीर, ये दोनों ही जुलाहा-जाति से सम्बद्ध थे। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के अनुसार 'कोरी हो मुसलमान-धर्म में दीक्षित हो जाने पर जुलाहे हो गए .....' ('करे कबीरा कोरा' तथा 'दूबे सूत मिलाए कोरा' वे कहते हैं मेरी समझ से कबीर में कैवल प्राचीन नया कोरी किन्तु तत्कालीन के थे जो मुसलमान होने के पहले जोगियों का अनुयायी था ।"

लोगों में परिगणित होते थे। अभी भी दरभंगा-मधुबनी के क्षेत्रों में जुलाहे बहुत हैं और उनकी मैथिली ग्रियर्सन के अनुसार 'जोलहू मैथिली' कहलाती है।

ज्योतिरीश्वर ने 'वर्ण-रत्नाकर' में नगर-वर्णन के प्रसंग में [illegible], धुनिया तथा दर्जी आदि व्यावसायिक लोगों की तो चर्चा की है किन्तु जुलाहे का नामोल्लेख नहीं किया है।[1]

(ख) कुम्हार :—विद्यापति की दृष्टि कुम्भकार के चाक और उसके कार्य-कलाप पर भी पहुँचती है। केवल जुलाहे के कार्यों का ही नहीं कुम्हार के कार्य का भी वे उपमान ग्रहण करते हैं। कुम्हार बर्तन बनाकर सूत से उसका तल काटता है यह विद्यापति को [illegible] है।[2] यहाँ हम देखते हैं कि विद्वान और श्रीमान् विद्यापति लोक-जीवन से भी गहरा सम्पर्क का [illegible] रखते हैं।

(ग) तेली :—विद्यापति की लोक-परक दृष्टि तेली के बैल पर भी पहुँची है। वे केवल जुए के नीचे चलने वाले बछड़े या बैल से ही परिचित नहीं हैं वरन् तेली या कोल्हू के बैल की अवस्था को भी जानते हैं। विद्यापति का कहना है कि तेली का बैल [illegible] में ही घूमता रहता है, वह पानी में उतरकर बोझ नहीं ढो सकता है वह कृषि-कार्य के लिए अनुपयुक्त होता है।[3]

यहाँ विद्यापति एक साथ तेली के व्यवसाय और कृषि-कार्य के सन्दर्भों को उपस्थित करते हैं। तेली भी बैल की सहायता से तेल निकालता है और किसान भी पानी में बैल को जोतकर कृषि-कार्य करता है किन्तु दोनों के बैलों की शक्ति और प्रकृति में पूरा अंतर रहता है।

तेली का बैल, थान, पालो आदि सभी लोक-जीवन विम्ब ही हैं।

(घ) कृषि और उद्यान-कर्म :—विद्यापति-पदावली में कृषि और बागवानी के क्षेत्रों के भी विम्ब मिलते हैं। विद्यापति खेत की मेड़ के आधार पर इस तरह की अर्थ-योजना करते हैं :—

---

१. '[illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible],
तुरिया, तुलुक [illegible] ...'—[वर्णरत्नाकर [illegible]]

२. मन [illegible] पुछल [illegible] संचार
नर [illegible] नहि [illegible] कुम्भार। [परिषद्—२०, पद—१०२]

३. [illegible] सुपुरुष तोहि निवेदल [illegible]
दिने-दिने होइति बढ़ाइ।
तेली बलद थान भल देखिअ
पालब नहि उजिआइ॥ [परिषद्—२०, पद-२२३]

औ परमालमु तओ परनारि
हमे पए दुहु दिस भेलिहु आरि ।[1]

दो खेतों के बीच मेंड़ बँधी रहती है, यह भारतीय कृषि-जगत् का सार तथ्य है।

विद्यापति एक पद में प्रेम की फुलवारी का चित्र उपस्थित करके फुलवारी के लोकपरक दृश्य को ही सामने लाते हैं। प्रेम—फुलवारी के प्रसंग में वे सुवचन-वारि, शील की आरी या मेंड़, पिशुन-रूपी कीट आदि की भी चर्चा करते हैं।[2] इस तरह यहाँ कवि की उद्यान-कल्पना लक्षित की जा सकती है।

(ङ) मत्स्य-बन्धन तथा मत्स्यजीवी :—विद्यापति-पदावली में मत्स्य-व्यापार और मत्स्यजीवियों से सम्बन्धित चित्र भी मिलते हैं।

मिथिला में बंगाल की तरह ही मछली का भोजन बहुत पसन्द किया जाता है और यहाँ मछली फँसाने का व्यवसाय भी खूब चलता है।

विद्यापति एक पद में 'अँवेंम' (अँधइ या अन्हइ) नामक एक विशेष मछली की चर्चा करते हैं जो सर्पाकार और नेत्र-विहीना होती है। इसी पद में वे मछली मारने वाले बगुले और मछली फँसाने वाले 'टेना' का भी प्रसंग उपस्थित करते हैं—

टेना चकल बक बहुल देषल
अँवैंअ पोसल आनि।—(परिषद्—प० पद-८५)

'टेना' मछली फँसाने के लिए मिट्टी, सिरकी आदि के डाले हुए घेरे को कहते हैं।[3] मल्लाहों के कार्य-व्यापार से 'टेना' का चित्र और 'अन्हइ' नामक

१. परिषद-पदावली, पद—७२ ;

२. फूल एक फुलवारि लाओल मुरारि।
जतने पटाओल सुवचन-वारि ॥२॥
चौदिस बान्हल सीलक आरि।
जिबे अवलम्बन कम अवधारि ॥४॥
तनहु फुलल फुल अभिनव पेम।
जसु मन लइए न लावहु हेम ॥६॥
× ×
पिसुन-कीट जहि लागल ताहि।
माधव फल देख विहि निरवाहि ॥१०॥ —(बेनीपुरी, पद—२५७)

३. "टेना—मछली फँसाने के लिए डाला गया मिट्टी, सिरकी आदि का घेरा।" —(विद्यापति-पदावली, भाग १, पृ० १६७, शब्दार्थ, पद—८५; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्)

मछली का लोभ चित्र ... विद्यापति ... प्रकट करते हैं।

विद्यापति के ... मछली का शिकार तो बहुत ही सुगम ... है बल्कि मछली फँसाने के लिए ... अच्छी है ही अतः अत्र उसका ... नहीं है।

विद्यापति नाविक-जीवन के चित्र भी प्रस्तुत करते हैं। ... वे नाव पर नदी पार करने और खेवा ... करते हैं। उनके एक पद का ... नाविक पार ... नहीं ले रहा है।[1] एक दूसरे पद में भी एक नायिका नदी को पार करना चाहती है और घटवार को ... देना चाहती है।[2] एक अन्य पद में नाव पर चढ़ी एक तरुणी ... से पार उतार देने की प्रार्थना करती है।[3] ये सभी चित्र मल्लाहों के जीवन से सम्बद्ध हैं।

---

१. नाव डोलाव अहीरे
   निवहत न प ओत नीर
   खर नीरे लो।
   खेवा न लेअए मोले
   हसि हँसि कीदहु बोले
   जिव डोले लो ॥८॥ (बैनीपुरी, पद—...)

इस पद में छन्द की लय भी ... है। ... स्थान और पतवार के चलाने की ... है ... जाता है कि ... मल्लाही ... है। —लेखक।

२. कर धर कर मोहि पारे
   देव मैं अपरुब हारे कन्हैया ॥२॥
   सखि सब तेजि चलि गेली।
   न जानू कौन पथ भेली, कन्हैया ॥४॥
   हम न जाएब तुअ पासे।
   जाएब औघट घाटे, कन्हैया ॥६॥
   विद्यापति एहो भाने।
   गुजरि भजु भगवाने, कन्हैया ॥८॥ —बेनीपुरी, पद—१८।

इस पद के छन्द में भी चप्पुओं और लहरों को छप-छप का ... होता है। —लेखक।

३. नअ जुन गौरव मील-मोआव।
   मुनि कए चढलिहुँ नोतरि नाव ॥२॥
   हट न करिअ कान्हु ... मोहि पर
   सब तह बड धिक पर उपकार ॥४॥ बेनीपुरी, पद-१८

(ङ) वाणिज्य और व्यापारिक व्यवहारों पर आधारित अर्थ :—
विद्यापति के पदों में लोक जीवन की व्यापार-विधियों और व्यापारिक धारणाओं का भी स्वाभाविक [illegible] उल्लेख हुआ है। [illegible], बिक्री की विधि [illegible] आदि [illegible] और [illegible] का उन्होंने [illegible] प्रयोग करके लोक-संस्कृति का अच्छा परिचय दिया है।

(१) आदि कटाक्ष से ही कृष्ण का मन हर लेने वाली राधा का प्रसंग [illegible] करके विद्यापति ने नयन-रूपी [illegible] या व्यापारी दुकानदार, [illegible] काम करनेवाले मन्मथ-रूपी [illegible], [illegible] लिखनेवाले कोमल द्विज, [illegible], [illegible] चाँद-रूपी [illegible], [illegible] का [illegible] और मन-रूपी [illegible] की चर्चा की है और इस तरह उन्होंने उस युग की खरीद-बिक्री की विधि का चित्रण किया है। मिथिला के प्राचीन बाजार में वस्तु-विक्रय कैसे होता था, इसकी प्रामाणिक जानकारी विद्यापति के इस पद से मिल जाती है। उस युग में [illegible] के रूप में कौड़े की कलम का प्रयोग होता था, यह भी प्रकट ही है।

वाणिज्य और लोक-व्यवहार की कल्पनाओं से पूर्ण इस पद के वर्णन को विद्यापति ने संस्कृत में भी लिपिबद्ध किया है।[2]

(२) विद्यापति के एक पद का [illegible] है कि कामदेव की दुकान खुली हुई है। नायिका को कुटिल कटाक्ष से नागर के दस लाख के मूल्य [illegible] को ही आयत्त कर लेना चाहिए या उसे ऐसी चेष्टा करनी चाहिए कि अपने [illegible] को भी तोड़कर नागर उसे दस लाख गिन दे। विद्यापति जानते हैं कि [illegible] बोहनी होती है, [illegible] ही बिक्री होती है। अच्छी बोहनी होने पर दिन भर अच्छा विक्रय होता है। [illegible] पहला सौदा [illegible] में होना चाहिए। [illegible] पर कवि ने वाणिज्यकारों के [illegible] विश्वास को व्यक्त किया है।

बङ [illegible] [illegible] [illegible]
किनल कन्हाई लोचन [illegible] ।।२।।
[illegible] हटवा नहि [illegible]।
मनमथ मधथ उचित मूल बाढ़ो ।।४।।
[illegible] बिक लेखक [illegible] [illegible]।
काँप भमर-पद [illegible] बन्दा ।।६।।
[illegible] रति [illegible] लिखापन [illegible]
[illegible] लिह [illegible] मरम कहि [illegible] ।।८

— (बेनीपुरी पद—१०४)

१ 'विद्यापति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

विद्यापति जानते हैं कि [illegible] देने की जरूरत नहीं होनी चाहिए, अन्यथा [illegible] है। उन्हें यह भी पता है कि [illegible] और जरूरतमन्द ग्राहक महँगा भी [illegible] है। 'अइसन [illegible] अइसन [illegible]'— यह लोकोक्ति बनियों के विश्वास [illegible] है तथा 'आरति गाहक महँग बेसाह'— यह लोकोक्ति [illegible] मनोविज्ञान को प्रकट करती है।[1]

इस तरह हम देखते हैं कि प्रस्तुत पद में लोक-व्यवसाय और तत्सम्बन्धी रीति-रिवाजों और आस्थाओं का चित्रण हुआ है।

(३) दुर्लभ वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है, यह आर्थिक सिद्धान्त है। [illegible] होकर बेचने से वस्तु कम [illegible] में बिकता है और दुर्लभ पदार्थ की कीमत अधिक होती है, लोक-जीवन के इस आर्थिक सत्य को विद्यापति ने इस प्रकार प्रकट किया है —

'[illegible] अमोल।
[illegible] मोल॥
[illegible]।
[illegible]॥

—[[illegible] पद—२५१, ना० प्र०]

(४) विद्यापति का एक पद इस रूप में मिलता है—

सुन्दरि [illegible]
आदि अन्त लह महघ बजार। —(रा० पु०, पद —१०६)

इस पाठ के अनुसार विद्यापति का वक्तव्य यह है कि बाजार आरम्भ और अन्त में महँगा रहता है। किन्तु मि० म० (पद-४५) में 'लह' की जगह नहि पाठ मिलता है और डॉ० श्री सुभद्र झा (पद—१०८) भी 'नहि' पाठ को ही प्रतिपादित करते हैं। डॉ० झा इस प्रसंग का यह अर्थ करते हैं कि बाजार में आरम्भ या अन्त नहीं होता है। उनका अभिप्राय यह है

१ प्रथमहि [illegible]
[illegible] ॥२॥
[illegible]।
[illegible] ॥४॥
दुहु सुन्दरि [illegible]।
[illegible] ॥६॥
[illegible]
[illegible]
अतहि न हृदय बुझाओब लाहु।
आरति गाहक महँग बेसाह ॥१०॥ —[बेनीपुरी पद—६३]

(ख) वाणिज्य और [illegible] आर्थिक अर्थ विद्यापति ने [illegible] -विषयक और आर्थिक धारणाओं का भी रचनात्मक विनियोग दृष्टिगत होता है। [illegible] बाजार, बिक्री की विधि और बिक्री का [illegible] आदि और [illegible] और लोक-विश्वासों का उन्होंने काव्यात्मक प्रयोग करके लोक संस्कृति का अच्छा परिचय दिया है।

(१) आधे कटाक्ष से ही कृष्ण का क्रय कर लेने वाली राधा का प्रसंग उपस्थित करके विद्यापति ने वसंत-रूपी हट्टाधिप या अप्रमादी दुकानदार, उचित दाम कहनेवाले मन्मथ-रूपी मध्यस्थ, क्रयलेख लिखनेवाले कोयल द्विज, मकरन्द की रोशनाई, भ्रमर-पद-रूपी काँड़े की लेखनी, चाँद-रूपी गवाह, रतिरंग की बही या हिसाब का 'खाता' और मान-रूपी लेख की चर्चा की है और इस तरह उन्होंने उस युग की खरीद-बिक्री की विधि का चित्रण किया है।[1] मिथिला के प्राचीन बाजार में वस्तु-विक्रय कैसे होता था, इसकी प्रामाणिक जानकारी विद्यापति के इस पद से मिल जाती है। उस युग में लेखनी के रूप में काँड़े की कलम का प्रयोग होता था, यह भी प्रकट ही है।

वाणिज्य और लोक-व्यवहार की कल्पनाओं से पूर्ण इस पद के वक्तव्य को विद्यापति ने संस्कृत में भी लिपिबद्ध किया है।[2]

(२) विद्यापति के एक पद का वक्तव्य है कि कामदेव की दुकान खुली हुई है। नायिका को कुटिल कटाक्ष से नागर के दस लाख के मूल्य वाले प्राण को ही आयत्त कर लेना चाहिए या उसे ऐसी चेष्टा करनी चाहिए कि अपने प्राणों को भी तौलकर नागर उसे दस लाख गिन दे। विद्यापति जानते हैं कि जैसी बोहनी होती है, वैसी ही बिक्री होती है। अच्छी बोहनी होने पर दिन भर अच्छा विक्रय होता है। अतः पहला सौदा ठीक ढंग से होना चाहिए। इस स्थल पर कवि ने वाणिज्यकारों के बहुमूल्य सिद्धान्त को व्यक्त किया है।

---

१. बट कोमलि नुअ राधे।
किनल कन्हाई लोचन आधे ॥२॥
ऋतुपति हटवए नहि परमादा।
मनमथ मधथ उचित मूल बादी ॥४॥
द्विज पिक लेखक मसि मकरन्दा।
काँप भ्रमर-पद साखी चन्दा ॥६॥
बहि रति रंग लिखापन माने।
श्री सिव सिंघ सरस कवि भाने ॥८॥

—(विद्यापति, पद—[illegible])

२ 'विद्यापति ठाकुर' (डॉ० उमेश मिश्र, [illegible])।

विद्यापति जानते हैं कि [illegible] की [illegible] नहीं होना चाहिए, अन्यथा कम मूल्य मिलता है। उन्हें यह भी पता है कि व्यग्र और जरूरतमन्द ग्राहक महँगा भी खरीदता है। 'अइसन परहोक तइसन बीक'— यह लोकोक्ति बनियों के विश्वास को व्यंजित करती है तथा 'आरति गाहक महँग बेसाह'—यह लोकोक्ति क्रेता के मनोविज्ञान को प्रकट करती है।[1]

इस तरह हम देखते हैं कि प्रस्तुत पद में लोक-व्यवसाय और तत्सबंधी रीति-रिवाजों और आस्थाओं का चित्रण हुआ है।

(३) सुलभ वस्तु का मूल्य घट जाता है, यह आर्थिक सिद्धान्त है। व्यग्र होकर बेचने से वस्तु कम मूल्य पर बिकती है और दुर्लभ पदार्थ की कीमत अधिक होती है, लोक-जीवन के इस आर्थिक सत्य को विद्यापति ने इस प्रकार प्रकट किया है :—

बिरनाए [illegible] रतन अमोल।
[illegible] बनिके [illegible] मोल॥
सुलभ [illegible]।
[illegible] गमार॥

—[परिषद्-प०, पद—२५१, [illegible]]

(४) विद्यापति का एक पद इस रूप में मिलता है—

सुन्दरि रूप गुणहु सओ पार
आदि अंत लह महघ पसार। —(प० प०, पद —१०६)

इस पाठ के अनुसार विद्यापति का वक्तव्य यह है कि बाजार आरम्भ और अन्त में महँगा रहता है। किन्तु मि० म० (पद-४८) में 'लह' की जगह 'नहि' पाठ मिलता है और डॉ० श्री सुभद्र झा (पद—१०८) भी 'नहि' पाठ को ही प्रतिपादित करते हैं। डॉ० झा इस प्रसंग का यह अर्थ करते हैं कि बाजार में आरम्भ या अन्त नहीं होता है। उनका अभिप्राय यह है

---

1. प्रथमहि सुन्दरि कुटिल [illegible]
[illegible] नागर दे नहि लाज॥२॥
[illegible] हास सुधा-सम नीक।
अइसन परहोक तइसन बीक॥४॥
सुनु सुन्दरि नव मदन-पसार।
जनि गोपह [illegible] बनिजार॥६॥
रोस दरस रस राखब गोए।
[illegible]॥८॥
भनहि [illegible] सुकवि [illegible]।
आरति गाहक महँग बेसाह॥१०॥ —[बेनीपुरी, पद—[illegible]]

कि सौंदर्य के मूल्य में आदि और अन्त नहीं होता है।[1] डॉ० श्री उमेश मिश्र ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'महार्घ विक्रय का कोई आदि अन्त नहीं है।'[2] किन्तु विद्यापति का अभिप्रेत भाव यहाँ और ही है। इस लोकोक्ति का सीधा अर्थ यह है कि शुरू और अन्त में बाजार महँगा नहीं होता है। यह बात लोक-निरीक्षण से भी सत्य सिद्ध होती है। बोहनी करने के समय शुरू में बाजार में चीजों के मूल्य कम रहते हैं, ताकि बिक्री हो सके और शकुन बना रहे। इसी तरह संध्या का समय भी बोहनी का है और इस समय कम मूल्य रखने से चीजें बिक जाती हैं। बाजार जब लगता है तब भी मूल्य कम रहता है और जब उठने लगता है तब भी मूल्य कम ही रहता है। विक्रेता अपनी-अपनी चीजों को हाट उठने के समय सस्ते में भी बेच देना चाहते हैं। विद्यापति बाजार की इस प्रकृति से परिचित जान पड़ते हैं।

(५) विद्यापति का यह वक्तव्य भी लोक-मानस-प्रसूत ही है कि पहली बिक्री में भले व्यक्ति या भले क्रेता से व्यवहार करना चाहिए। पहली बोहनी भले आदमी के हाथ होने से अच्छा 'शकुन' बनता है।[3]

(६) वाणिज्य-व्यवसाय के अभिप्रायों को विद्यापति ने अपने पदों में बारंबार निबद्ध किया है। 'पदावली' में हाट, बोहनी, महार्घ आदि की चर्चाएँ अनेकत्र मिलती हैं।

विद्यापति एक पद में सुरत-रस के पसार का उल्लेख करते हैं।[4] उनका कथन है कि बिक्री उधार नहीं होनी चाहिए, क्योंकि बनिया बोहनी के समय उधार कारबार नहीं करता है।[5]

---

1. "O damsel, beauty is superior even to quality: there is no beginning or end to the market [value of beauty]. III"—[Songs of Vidyapati, Page 109].

२. द्रष्टव्य 'विद्यापति ठाकुर', पृ० २६२, पा० टि० २। गी० सं० १७ के क्रम में।

३. तोर सासनि पढ़िल पसार
हमर वचने करिअ बेवहार।
× × ×
पहिल पइसाक भला के हाथ
दे उपदेस ने गोपी साथ।। —[परिषद्—पदावली, पद—१७१]

४. (क) सगर सम्पादक सारे
अइए सुरत रस हमर पसारे। —(प० प० ३४)
(ख) मदन के पसार का प्रसंग भी मिलता है :—
"बसरउ मदन पसारे।"—[प० प०, प—४२]

५. इएहि रहओ मोहि सेवा
पहिल पइसाक उधारि न देवा।। —[परिषद्—प०, पद—३४]

विद्यापति की मिथिला के बाजार में केवल नकद ही नहीं उधार का व्यापार भी चलता है[1] तथा वहाँ 'बाउल' या बावले बनिए का भी अभाव नहीं है।[2] वहां का रोजगार मध्यस्थ[3] या दलाल[4] के माध्यम से संपन्न होता है, 'पदावली' से इस तथ्य की भी सांस्कृतिक सूचना प्राप्त होती है।

(७) 'कीर्तिलता' ही नहीं 'विद्यापति-पदावली' में भी रूपहाट और रूपाजीवाओं के संकेत मिलते हैं। ढली आयुवाली देहातिन कुट्टनी के रेखा-चित्रकार विद्यापति वस्तुतः रूप का वाणिज्य करनेवाली भूतपूर्व वेश्या का ही प्रसंग उपस्थित करते हैं—

हमे धनि कूटनि परिनति नारि। बेसहु बास न कहों बिचारि॥
काहु के पान काहु दिअ मान। कत न हकारि कयल अपमान॥

—(वि० प० । न० गु० ।—पद-१५)

एक अन्य स्थल पर प्रेम-पसार के प्रसार के चित्रकार विद्यापति यौवन-नगरी में रूप-विक्रय और मोल-तोल तथा रस के वाणिज्यकार कृष्ण और मध्यस्थ मन्मथ का उल्लेख करके प्रकारान्तर से रूपाजीवा, रूपहाट और उसके दलाल के ही वाणिज्यपरक चित्र को प्रस्तुत करते हैं।[5]

---

१. हरि गमे कैमन रोक उधारी। —(परिषद्—पदावली, १। पद—६४)

२. मवध न बुझल तुअ परिपाटी।
बाउर बनिक बर्राइ बर साटी॥ —(वही, पद—२५१)।

३. हृदय हार मोर देखी,
लोभे निकट नहि होएब बिशेषी।
मिलत उचित परिपाटी
मवध मनोज वरहि बर साटी॥ —(वही, पद—६४)।

४. कुलवति धरम काच समतूल।
मदन दलाल मोर अनुकूल॥८॥ —(बेनीपुरी, पद—४८)

५. ए धनि नगरि उगे सिख सार
पसरआ मतली पेम पसार।
जोबन नारि बेमाहन रूप
तने मुगरहट जनै सरूप॥ध्रु०॥
माजनि रे हरि रस बनिजार
गोप मरमे जनु बोलह गमार।
× × ×
नीह बुनि उचित रतन नहि मेट
मनमथ मधथै काज परिहेट॥ —(परिषद्—पदावली, १, पद—११९)।

विद्यापति ने एक अन्य पद में तत्यौवना युवती के शरीर के उपमान-स्वरूप वणिक-विहीन और अर्थ-रहित हाट का घर उपस्थित करके केवल अपनी लौकिक वाणिज्य-कल्पना को ही प्रस्तुत नहीं किया है बल्कि उस नारी के भूतकालीन शरीर-विक्रय को भी वर्णित किया है। सब तरह से शून्य एवं रिक्त दुकान का यह बिंब गतयौवना नायिका के शरीर की सच्ची कहानी का वाचन करने में पूर्णतः समर्थ है।[1]

(८) विद्यापति के एक पद में कौड़ी के अर्थ-साधन के रूप में प्रचलन और मट्ठे तथा घी के विक्रय का लौकिक अर्थ उपनिबद्ध मिलता है। पद का वक्तव्य है कि दाम भेजने पर यदि मट्ठा नहीं मिलता है तब तो उससे भी अधिक कीमत की चीज घी को उधार माँगना मूर्खता ही है।[2]

(९) मलधन और ब्याज की रीति का चर्चा करके विद्यापति ने महाजनी या वणिक वृत्ति का लौकिक चित्र ही खींचा है।

(१०) विद्यापति के एक वैराग्यपरक पद में भी महाजनी जीवन के बहुत से चित्र मिलते हैं। पद का वक्तव्य है कि खेती को रखवालों ने ही लूट लिया। वाणिज्य में भी लाभ नहीं हुआ। सम्पत्ति और भी छीज गई। विद्यापति का कहना है कि रामधन का वाणिज्य करने में बहुत लाभ और ब्याज मिलता है। वे इस विश्व को हाट और सब लोगों को वाणिज्यकार बतलाते हैं। जो जैसा रोजगार करता है वह वैसा ही मुनाफा उठाता है।

---

१. सुन्दरि अबे की देखह देह।
   बिनु हटवइ अरथ बिहुन जैसन हाटक गेह॥
   —(पाण्डेय—पदावली, १। पद—८३)।

२. कउड़ि पठाओल पाव नहि घोर।
   घीव उधार माग मतिभोर॥२॥
   —(बेनीपुरी, पद—२०६)

३. मालनि ओ नागर सालना।
   मूल बिनु पर [illegible] माग [illegible]॥७॥
   —(बेनीपुरी, पद—४४)

इनमें सोना, मजीठ, [illegible] आदि के वाणिज्य का भी उल्लेख मिलता है।[1]

इस तरह हम देखते हैं कि विद्यापति-साहित्य में वाणिज्य-संबंधी पुष्कल विवरण समाविष्ट है।

३. नीड़—निरीक्षण

'मेघदूत' के कवि कालिदास दशार्णदेश का वर्णन करते हुए केतकी पुष्प, जामुन के जंगल आदि के साथ-साथ पेड़ों में नीड़ बनाने में व्यस्त कौओं का भी चित्र खींचते हैं। इस तरह घोंसले बनाने में कार्यरत कौओं और पेड़ों पर की हलचल का ब्योरा उपस्थित करके कालिदास अपने सूक्ष्म लोक-निरीक्षण का ही परिचय देते हैं।[2]

---

१. लेल कपूर सुपारि लदल
ठाकुर सेवा मो० ।
बनिजा करए जाय नहि पओले
अन्त निकट भेल थोर ॥ध्रु०॥
[illegible] बनिजहु
बेज अछ लाभ अनेक ॥
सोति मजीठ कनक हमे बनिजब
पोसक [illegible] मोर ।
लोभे परेखि गनहि हमे निरखल
[illegible] मन मोर ॥
[illegible]
सगो नेक बनिजआर ।
जो जस बनिजए लाभ तस पावए
मुलघ मगहि गमार ॥
विद्यापति कह सुनह महाजन
राम रामति अछ लाभ ॥

—(परिषद्—प०, पद—१६१)

२. पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नै-
र्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥

—(पूर्वमेघ । २३) ॥

महाकाव्यों को छोड़िए लोक गीतों पर भी पहुँचता है। क्षेमेन्द्र ने 'कविकंठाभरण' में सुभाषु कवि के लिए सौ उपायों की शिक्षा दी है जिनमें लोकाचार-परिज्ञान, लोक-निरीक्षण आदि पर पूरा बल है।[1]

उन्हीं सौ शिक्षाओं के क्रम में कहा गया है कि कवियों को घोंसलों से लेकर प्रासादों तक का पर्यवेक्षण करना चाहिए।[2]

विद्यापति भी कालिदास की ही तरह सामान्य घोंसले का भी हार्दिकता से पर्यवेक्षण और चित्रण करनेवाले हैं। लोक-कवि विद्यापति ने मिथिला के छोटे से पक्षी चोचा के नीड़ को उपमान के रूप में उपन्यस्त किया है। चोचे के घोंसले के लोकाश्रित उपमान को लाकर विद्यापति अनुच्छिष्ट बिम्ब की योजना करते हैं। यहाँ कवि का लोक-निरीक्षण स्फुट प्रतिभासित होता है।[3]

४. चतरिआ का चित्रण

विद्यापति की दृष्टि 'चतरिआ' या भिखमंगे पर भी गई है :—

प्रथमहि कएलह हृदयक हार
बोललह तञे मोरि जिवन अधार।
अइसनेओ हठे बिघटओलह पेम
जइसन चतरिआ हायक हेम॥

—[परिषद्—प०, पद—२४३]

डॉ० श्री सुभद्रझाने 'चॉतरिआ' पाठ दिया है, किन्तु इसका अर्थ 'भिक्षकविशेष' ठीक ही किया है।[4]

---

१. द्रष्टव्य 'कवि-कण्ठाभरण', द्वितीय संधि।

२. "८. व्रतियों की सेवा, घोंसले से लेकर महलों तक सभी निवास-स्थान देखना, मीठा और स्निग्ध भोजन करना, धातुसाम्य अर्थात् वात पित्त कफ की समता, शोक न करना।"
—(कविकंठाभरण, २य संधि, अनुवाद, पृ० ६१; 'आचार्य क्षेमेन्द्र', डॉ० मनोहरलाल गौड़)

३. अबे हमे तुअ सिनेह जान...
कओन उपमा देब
प हरि चोचक खोन्धा अइसन
किछु न बानि-देब॥
—(परिषद्—प०, पद—२४)

४. songs of Vidyapati, Page 245, F. N.—Cataria—a class of beggars.

ज्योतिरीश्वर ने भी 'वर्ण रत्नाकर' में नगर-वर्णन के क्रम में भिखमंगों का वर्णन करते हुए 'चतरिआ' की चर्चा की है। अतः 'चतरिआ' का ठीक अर्थ भिक्षुक का एक विशेष प्रकार ही जान पड़ता है।[1]

डॉ० सुभद्र झा ने 'चतरिआ' वाले प्रसंग का जो स्पष्टीकरण किया है उससे मैं अपनी विनम्र असहमति प्रकट करता हूँ। डॉ० झा का वक्तव्य है कि जैसे हठ और सनक में आकर भिखमंगा सोने को भी ठुकरा देता है उसी तरह नायक ने प्रेम को तोड़ दिया है — ठुकरा दिया है।[2]

मेरी समझ में पूरे प्रसंग का आशय यह है कि कोई प्रेमी के द्वारा तिरस्कृता नायिका नायक से कहती है कि हे प्रिय, पहले तो तुमने मुझे हृदय-हार बनाया और मुझे अपना जीवनाधार बतलाया, किंतु ऐसे उत्कट प्रेम को भी तुमने हठपूर्वक तोड़ दिया—विघटित कर दिया और अब इस स्थिति में मुझे तो ऐसा लगता है कि जैसे चतरिआ के हाथ से एकाएक सोना चले जाने के बाद वह विकल, स्तब्ध और दुःखी हो जाता है उसी तरह मैं भी सर्वस्व खोकर उसी भिखारी की भाँति हो गई हूँ।

भिखारी के हाथ में सोना आकर यदि चला जाता है तब वह बड़ा पीड़ित होता है। नायिका को नायक का भरपूर प्रेम मिला था किन्तु उस प्रेम को नायक ने ही पुनः विघटित कर दिया है जिससे नायिका सोना पाकर पुनः उससे वंचित हो जाने वाले 'चतरिआ' की तरह मर्माहत हो गई है।

'परिषद्-पदावली' के संपादकों ने 'चतरिआ' का अर्थ चमत्कारी या बाजीगर किया है।[3] यह संभव है कि 'चतरिआ' बाजीगर की कोटि का

---

१. "जती, योगी, सन्यासि, सरभर, अवधूत, जैन, चतरिआ, ब्रह्मचारी, अतीत, सोरठा, वाहिति, परमा प्रभृति ए अनेक भिखारि देखु ।"—[वर्णरत्नाकर ।२, नगर वर्णनो । पृ० २]।

२. "You have, like a catarıa, his gold, discarded love that was so deep just on account of your whim. II."—(Songs of Vidyapati, Page 245, Song—242)

३. "चतरिआ—(चमत्कारी—सं०) बाजीगर ।" —[प० प०, पद—२४३, शब्दार्थ, पृ० ३४४] । पूरे प्रसंग का अर्थ प० प० में इस प्रकार किया गया है :— "पहले तो (मुझे अपने) हृदय का हार बनाया (और) कहा (कि) तुम मेरे जीवन का आधार हो।

ऐसा होते हुए भी हठात् प्रेम को विघटित कर डाला; जैसे कि जादूगर के हाथ का सोना विघटित हो जाता है।" —[पद—२४३, अर्थ—प्रकरण, पृ० ३४४]

तमाशा दिखा-दिखाकर भीख माँगनेवाला या उदरपोषण करनेवाला हो। यदि इस अर्थ को मान लिया जाए तो हमसे विद्यापति-द्वारा-निर्दिष्ट हाथ की सफाई दिखलाने वाले बाजीगर का चित्र हमारे सामने आता है। यह भी बिल्कुल लोकचित्र ही है। किन्तु वर्णरत्नाकर और डॉ० झा के साक्ष्यों के आधार पर 'वलरिआ' का अभिप्राय एक विशेषप्रकार का भिखारी ही मानना समीचीन है।

५. मिथिला के निर्धनों की झोपड़ियाँ

विद्यापति मिथिला के झोपड़ीनुमा घरों को नहीं भूलते हैं। हम पीछे देख चुके हैं कि वे खर के छप्पर पर कुम्हड़े के प्रसार के कारण खर की दुरवस्था का यथेष्ट परिज्ञान रखनेवाले यथार्थवादी कवि हैं। इसी तरह उनकी दृष्टि छप्पर से उतर कर टट्टी के घरों के द्वारों पर भी टिकती है—

साझ नुकाविअ तिमिरक सोन्धि
परउसिन देअए फरकी बान्धि ॥ —(प० प० । ७३)

यहाँ विद्यापति झोपड़ी को 'फलकी' या टट्टी के फाटक का प्रसंग लाकर मिथिला के दरिद्रों के घरों का चित्र ला खड़ा करते हैं।

एक अन्य पद में भी विद्यापति इस चित्र को दुहराते हैं—

"टाट टुटले आङ्गन बेकत सबे परदा राप।" —(प० प० । ८५)

टट्टी के घरों में टाट या टट्टर के ही दरवाजे होते हैं। उसके टट्टर के टूट जाने से आँगन दिखलाई पड़ने लगता है, यह कवि का आँखों-देखा अनुभव है।

विशाल हर्म्यों और रत्नजटित द्वारों वाले प्रासादों के नागर वातावरण से परिचित और समृद्धि की छाया में निश्चिंत जीवन बितानेवाले विद्यापति जनसाधारण के खर से छाए छप्पर, टट्टी के घर और 'फलकी' को नहीं भूल सके हैं, यह निश्चय ही उनके लोकनिष्ठ व्यक्तित्व का प्रमाण है।

६. जुआड़ी और पाशा

भारत में प्राचीन काल से ही द्यूत खेलने की प्रथा प्राप्त होती है। वेदों में द्यूत-क्रिया का वर्णन मिलता है। महाभारत में भी द्यूत के खेल का विशद् वर्णन उपलब्ध है। 'चारुदत्त' तथा 'मृच्छकटिक' आदि नाटकों में भी जुआड़ियों और जुआ के अड्डों के लोकचित्र प्राप्त होते हैं। मृच्छकटिक का संवाहक निष्णात जुआड़ी है। ज्योतिरीश्वर ने वर्णरत्नाकर में जुआ-घर, जुआड़ी और द्यूत-क्रीडा के अंग-उपांगों का विशद वर्णन करके अपने लोक-

ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है।[1] जुआघर की पूरी हलचल और इस खेल की पूरी बारीकियाँ चित्रोपम ढंग से वर्ण-रत्नाकर में प्राप्त होती है।

इस लोक-क्रीड़ा के ज्ञान के सहारे विद्यापति ने भी अपनी एक उक्ति को बाँधा है:—

जाइ खने दिलहु आलिङ्गन गाढ
जनि जुआर पसमे खेल पाढ ॥

—(प० प०, पद—१६८)

'जुआर' और 'पाढ' ये दोनों शब्द द्यूत-वर्णन के क्रम में वर्णरत्नाकर में भी प्राप्त होते हैं।[2]

विद्यापति के पद का वक्तव्य है कि नायिका सोई हुई थी, इसी बीच नायक चला गया। उठने पर नायिका अपनी सखी से कहती है कि यदि वह नींद में न होती तो प्रियतम को रोकने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करती। वह प्रिय का गाढालिंगन करके उसे रोकने या जीतने का प्रयत्न उसी तरह करती जिस तरह जुआड़ी उत्साहपूर्वक पाशा खेलता है। हारता हुआ द्यूतकार भी उमंग से जीतने की सम्भावना करता हुआ अपना दाँव चलता है। पाशा चलाने में वह आशान्वित ही रहता है। पद की नायिका भी आलिंगन का दाँव चलकर जानेवाले प्रियतम को रोक लेने की चर्चा करती है।

इस तरह हम देखते हैं कि विद्यापति के मन में पाशा चलाने वाले जुआड़ी का चित्र जमा हुआ था जिसका विनियोग उन्होंने अप्रस्तुत-योजना के रूप में किया है। इस लोक-उपमान का प्रयोग करके विद्यापति श्लाघ्य सिद्ध होते हैं।

---

१. द्रष्टव्य वर्णरत्नाकर।४। 'अथ द्यूत वर्णना', पृ० २३—२६।

२. (क) "वैदेशिक, आमनैकादि अनेक व्यसनी, अर्थी, जुआर, रुज खेलइते देषुअइ, XXX नडिष धुर, खेनवार, जुआर, दरडगाह, दिवाय।"

—[वर्ण० ४। पृ० २५]

(ख) "तएँ उपर दाएउ देइतें आइ, अनेक जुआर देषुअइ।" XX
"मारि गंजन सहइतें आइ, अनेक असत्य वाक्य बेलइतें।
आइ, धर्मनिय वड़ी मक्कांस्याय जुआर हरवार देषुअइ।।"

—[वर्णरत्नाकर। ४। पृ० २६]

(ग) "आभोर कइसन। किनीथोत। मेलल। वहल। आसल।
हारल। हथवार। पड़त। पाढ़। बिलग। लाग'...."

—[वर्णरत्नाकर। ४। पृ० २५]

७ हाथी के जीवन और कार्य व्यापार सम्बन्धी अर्थों का निबन्धन

विद्यापति ने हाथी के कार्य-व्यापारों और उसके जीवन से सम्बन्धित तथ्यों के आधार पर जो रूपक खड़ा किया है उसमें भी उनकी लोक-दृष्टि का ही प्रकटीकरण हुआ है। इस प्रसंग के सभी उपमान लोकाश्रित ही है। हृदय-रूपी हथिसार, लाज-रूपी शृंखला, यौवन-रूपी हाथी और मनसिज-रूपी मदजल तथा प्रियतम-रूपी अंकुश या प्रियतम के द्वारा अंकुश लेकर यौवन-हाथी का नियन्त्रण करना एवं महावत से हाथी का झुकना आदि बातों के द्वारा विद्यापति हाथी से सम्बन्धित लोक-चित्रों को ही चारुता-पूर्वक प्रस्तुत करते हैं।[१]

लोक-काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' में भी यौवन-रूपी हाथी और प्रियतम के अंकुश की कल्पना प्राप्त होती है:—

> ढाढी, जे राजिंद मिळइ, यूँ दाखविया जाइ।
> जोबण-हस्ती मद चढ्यउ, अंकुस लइ घरि आइ ॥१६॥

विरहिणी मारवणी ढाढी को प्रियतम के लिए [illegible] कि हे ढाढी, यदि राजा मिलें तो उनसे कहना कि यौवन-रूपी हाथी पर मद चढ़ गया है अतः तुम अंकुश लेकर घर आ जाओ।

विद्यापति ने हाथी-सम्बन्धी अप्रस्तुत-योजना का साङ्ग चित्र प्रस्तुत किया है, किन्तु उनपर 'ढोला-मारू रा दूहा' के इस 'घणे पुराणे' दूहे का प्रभाव भी परिलक्षित किया जा सकता है।

---

१. कानन गओल हृदय-हथिसार।
ते थिर थम्भ पयोधर भार ॥२॥
लाज-सिकर धर टुट कय तोए।
[illegible] वचन हलह जनु कोए ॥४॥
दूर कर [illegible] सखि चिन्ता आन।
[illegible] ॥६॥
[illegible]।
[illegible] ॥८॥
[illegible]।
[illegible] ॥१०॥
[illegible]।
[illegible] ॥१२॥ —(बेनीपुरी, पद—[illegible])

६. न्यायाधिकरणिक कल्पना

मृच्छकटिक में न्यायालय और न्याय-विधि के लोक-संपृक्त चित्र मिलते हैं ; विद्यापति के भी एक पद में लोक-जीवन से ही अनुप्राणित न्यायाधिकरणिक या पंचायत-सम्बन्धी कल्पना या अर्थ-योजना मिलती है।

ऋतु-वर्णन करते हुए विद्यापति ने शीत-वसन्त के विवाद का चित्र खींचा है। वादी वसंत की फरियाद दक्षिण पवन के बहने के रूप में है। मध्यस्थ या पंच सूर्य है तथा द्विजवर कोकिल साक्षी है जो वसंत के पक्ष में गवाही दे रहा है। वसंत के नए पल्लव जयपत्र की तरह हैं। मधुकरों की पंक्ति उस जयपत्र की अक्षर-पंक्ति के रूप में है। वादी वसंत से प्रतिवादी शीत भीत हो गया है। अनुपम कुन्दकुसुम के विकास के रूप में वसंत अपनी जीत को व्यक्त कर रहा है।[1]

शीतकाल को हराकर वसंत के जीतने की बात को विद्यापति ने मुद्दई-मुद्दालह, पंचायत, पंच, गवाह, जयपत्र, जयलेख आदि की लौकिक-कल्पना से अभिव्यंजित किया है। विद्यापति की इस अप्रस्तुत-योजना और अर्थ-योजना का आकर-स्रोत लोक-जीवन ही है।

ऊपर के प्रसंग में मध्यस्थ दिवाकर की चर्चा आई है। विद्यापति के एक अन्य पद में भी मध्यस्थ का प्रसंग आया है—''अधिरक आतर मधय लजाइ ॥''—[वि० प०, पद-१२८]। विद्यापति की इस लोकोक्ति में लोक-जीवन की पंचायत-सम्बन्धी बात का ही संकेत मिलता है।

---

१. दखिन पवन वह दस दिस रोल।
से जनि वादी भाषा बोल ॥२॥
मनमथ का साधन नहिं आन।
निरसाखर से मानलि मान ॥४॥
माह हे सीत-वसंत विवाद।
कओन विचारब जय-अवसाद ॥६॥
दुर दिस मधथ दिवाकर भेल।
दुजवर कोकिल साखी देल ॥८॥
नव पल्लव जयपत्रक भाँति।
मधुकर-माला आखर-पाँति ॥१०॥
वादी तह प्रतिवादी भीत।
सिसिर-बिन्दु हो अन्तर शीत ॥१२॥
कुन्द-कुसुम अनुपम विकसंत।
सतत जीत वेकताओ वसंत ॥१४॥

—[बेनीपुरी, पद-१८२]

विद्यापति यह जानते हैं कि मध्यस्थ की बात को दोनो पक्षवाले मानते हैं किन्तु अस्थिर लोगों का बीच-बचाव या न्याय करने वाला मध्यस्थ लज्जित हो जाता है, क्योंकि अस्थिरचित्तवालो के बीच उसकी बात का पालन नहीं हो पाता है।

९. बँसबाड़ी की हाँड़ी

विद्यापति ने बाँस की बीट या बँसबाड़ी तथा उसमें फेकी गई त्याज्य और उपेक्षित हाँडी का भी निरीक्षण किया है। विद्यापति की एक नायिका का वक्तव्य है कि उसे बँसबाड़ी की हाँडी के समान अव्यवहार्य और त्याज्य बना दिया गया है।[1]

१०. ढौंढ़ साँप

विद्यापति ने एक पद में गर्वीले जलसर्प ढोढ़ या डुण्डुभ का प्रसंग उपस्थित किया है। यह निर्विष किन्तु विषगर्वी साँप डाबरो में प्रायः मिल जाता है। सत्वहीन घमंडी व्यक्ति पर व्यंग्य करने के लिए विद्यापति ने ढोढ़ के लोक-चित्र को ठीक ही चुना है।[2]

११. लोक-संस्कृति के इतर पक्ष

विद्यापति-पदावली में लोक-संस्कृति की पूरी छाप देखी जा सकती है। लोक-परंपरा, लोक-विश्वास, लोक-प्रथा, लोक-व्यवसाय आदि 'फोकलोर' के विविध अंगो के आधार पर विद्यापति ने अपने अर्थो का निबन्धन किया है।

(अ) लोक-विश्वास और अन्धविश्वास

फलित ज्योतिष और आदिम विश्वासों से सम्बद्ध तत्त्वों में जनसामान्य के मूढाग्रहो और अन्धविश्वासो के विविध पक्ष लक्षित होते हैं। लोक मानस की इन बद्धमूल अन्धपरम्पराओं को शकुन-अपशकुन, मन्त्र-तन्त्र, डायन, प्रेत, टोना-टोटका तथा शुभाशुभ-संबंधी धारणाओ में देखा जा सकता है। इन लोक-विश्वासों में जनता का जातिगत मनोविज्ञान अभिव्यंजित होता है।

---

१. फल पाओल कए नीड़ सीन मा
कएल हुँ हाँडी बाँसक बाड़ ॥
—[परिषद्-पदावली, पद—२७]

२. हम तह के विषहु भार
ढौढ़हु कौ विक भान ।

—[न० गु०, पद—२१०]

(७) शकुन-(क)-काक—शकुन :—'शकुन' का अर्थ पक्षी ही होता है। बहुतेरे पक्षियों से संबद्ध लोक-विश्वास भारतीय जीवन में घर किए हुए हैं। कौए की बोली शकुन-सूचिका मानी गई है। कौए के बोलने से संबद्ध लोक-विश्वास यह है कि इसका बोलना परदेशी प्रियतम के आने का सूचक होता है।

भारतीय साहित्य में विरहिणी नायिकाओं का कौए से पूरा लगाव देखा जा सकता है। कभी तो कौए को उड़ाते-उड़ाते नायिकाएँ उसकी जान साँसत में डाल देती हैं, तो कभी उसे तरह-तरह के प्रलोभन और आश्वासन देती हैं कि प्रियतम के आने पर उसे अमुक-अमुक पदार्थ दिए जाएँगे। कौए पर प्रसन्न होकर नायिकाएँ उसे बलि देती हैं। 'कामसूत्र' में भी 'वायसपूजा' का संकेत मिलता है।[1]

'वज्जालग्ग' की एक गाथा में गरीबिन प्रोषितपतिका प्रियतम के आने का शकुन जानने के लिए कौए को उड़ाती है। उड़ने के बाद कौआ पुनः आकर बैठ जाता है। इस शुभशकुन से प्रियतम का आना व्यंजित होता है। नायिका कौए को बलि देना चाहती है किन्तु उस विपन्ना के पास खाने की कोई भी चीज नहीं है जिससे वह कौए को पुरस्कृत करे। अपनी इस दुरवस्था पर वह इतना रुदन करती है जितना उसने बांधव-मरण पर भी नहीं किया था।[2]

दिव्यदृष्टि साहित्य के अपभ्रंश-काव्य 'पउमसिरी चरिउ' में विरहिणी पद्मश्री कौए से कहती है कि उसके शकुन-भाषण से यदि प्रिय आ जाएगा तो वह उसे दही-भात खिलाएगी।[3]

---

१. वायसपूजा च ॥५१॥
वायसेति। यस्याः प्रतिवासं, संध्यायां वायसः। बलमसे समागते प्रियतमे दास्यामीति तदिदं प्रतिज्ञातं गृहाणेति। ५१॥
[कामसूत्र, अधिकरण ६, अ० ८, सूत्र ५१ : जयमङ्गला टीका]

२ बन्धव मरणे विहहा दुग्गयघरिणीए विललखा रुण्णं। भत्तम्मि बलि विलक्खं वल्लहकाए समुड्डीणे॥
[वज्जालग्ग (सुघरिणी वज्जा) । ४६९ ॥]

३ द्रष्टव्य पउमसिरी चरिउ ३.४। डॉ० हरिवंश कोछड़ ने इस प्रसंग का अनुवाद इस प्रकार किया है :—"पद्मश्री कभी ज्योतिषियों से पूछती है कि मेरा पति कब लौटेगा। कभी कौए को सम्बोधन करती है कि यदि तुम्हारे शब्द से पति आ गया तो मैं तुम्हें दही भात खिलाऊँगी। आँखों से गालों पर बहकर बड़े बड़े आँसुओं से पद्मश्री दिन-प्रतिदिन क्षीण होने लगी और कृष्णपक्ष की निस्तेजचंद्रलेखा के समान हो गई।"
[अपभ्रंश-साहित्य, पृ० २०३]

प्राकृत अपभ्रंश-भाषा [illegible] राती काग [illegible] शकुनाश्रय धर्ता [illegible] साग्नी कलापों में ही उड़क [illegible] है।[1]

एक अन्य अपभ्रंश-दोहा में कई विरहिणियों के [illegible] का चित्रण है जो कहीं भी बैठने नहीं पाता है—[illegible] विरहिणियाँ शकुन जानने के लिए उसे उड़ाती ही रहती है।

'ढोला-मारू रा दूहा' की विरहिणी मारवणी [illegible] में कहती है कि यदि कौआ प्रिय से मिलाप करादेगा तो वह उसे केवल [illegible] ही नहीं देगी, अपना कलेजा काढ़कर खाने के लिए भी देगी।[3] एक दूसरे दोहे में विरहिणी मारवणी शकुन के लिए काग को उड़ाने में दोनों [illegible] जाने की बात कहती है।[4] एक अन्य दोहे का वक्तव्य है कि विरहिणी मारवणी [illegible]

---

१. वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति। अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥४॥ ३५२ ॥१॥ —(सिद्धहेम [illegible])

इस अपभ्रंश सुभाषित के वचन का एक राजस्थानी संस्करण यह है:—
काग उड़ावण धण खड़ी, आयो पीव भड़क्क।
आधी चूड़ी काग-गल, आधी गई तड़क्क ॥

२. [illegible] वि विरह कराऽलिअ उड्डावियउ [illegible]।
[illegible] दिट्ठ [illegible] कहिउ [illegible] ॥
गुलेरीजी ने इस दोहे का अर्थ भी [illegible] के [illegible] प्रकार किया है —

"विरहाकुलिता [illegible] को उड़ाया करती है [illegible] तो [illegible]। जहाँ कहीं विरहाकुलित [illegible] उधर गया तो एक उसे उधर [illegible] बेचारा काग में इधर [illegible] रहा है कि [illegible]"

—[पुरानी हिन्दी, पृ० २१६]

[illegible] के साथ यह पद्य [illegible] में उद्धृत है। नामवर सिंह ने इसका गुलेरी जी से [illegible] 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग,' पृ० २ [illegible]

३. कउआ, [illegible] बधाइया, प्रीतम [illegible]।
काढि कलेजउ आपणउ भोजन [illegible] ॥ [illegible] ॥

४. बाजम, एक [illegible] दे, [illegible]।
[illegible] कागा उड़ाइ [illegible] ॥ [दोहा, १६५]

प्रियतम के आने के शुभ शकुन के रूप में आँखों का फड़कना और कौए का बोलना ज्ञात होता है, फिर भी वह दूरस्थ प्रिय के आने के संबंध में आश्वस्त नहीं हो पाती है।[1]

काक-शकुन-संबंधी लोक-विश्वास को हम विद्यापति के पदों में भी देख सकते हैं। प्रवासी प्रियतम यदि कौए के बोलने से आ जाएगा तो विद्यापति के पद की विरहिणी कौए को सोने के कटोरे में खाँड़-मिश्रित दूध देने की प्रतिज्ञा करती है।[2]

विद्यापति के एक अन्य पद में आँगन के चंदन-वृक्ष पर चढ़कर बोलने वाले काग से प्रोषित-पतिका कहती है कि यदि प्रियतम आज आ जाएगा तो वह काग की चोंच को सोने से मढ़वा देगी।[3]

(ख) शुभ शकुन : अंगों और आँखों का फड़कना—यह लोक-विश्वास है कि स्त्रियों के बाएँ अंगों का फड़कना मंगलमय होता है। 'गाथा-सप्तशती' की एक विरहिणी अपनी फड़कती हुई बाईं आँख से कहती है कि यदि इस शुभ शकुन के फलस्वरूप उसका प्रिय आ जाएगा तो वह दाहिनी आँख को बन्द करके बाईं से ही प्रिय का दर्शन करके उस आँख को आप्यायित और पुरस्कृत करेगी।[4]

हर कवि ने राधा को बाएँ नेत्र से ही कृष्ण का दर्शन करती हुई चित्रित किया है क्योंकि उसी नेत्र ने फड़ककर नव अभ्युदय की सूचना दी थी।[5]

---

१. आँख निमाँणी क्या करइ, कउवा लवइ निगउन।
सउ जोइन साहिब वसइ, सो किम आवइ अज्ज॥ —(ढोला० ५२० ॥)

२. काक भाख निज भाखह रे पहु आओत मोरा।
खीर खाँड भोजन देव रे भरि कनक कटोरा॥१०॥—(बेनीपुरी, पद—१६०)

३. मोरा रे अँगनमा चनन केरि गछिया
ताहि चढ़ि कुररय काग रे।
सोने चोंच बाधि देब तोयँ बायस
जओं पिया आओत आज रे॥२॥—(बेनीपुरी, पद-२२२)

४. फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओज्ज ता सुइरं।
संमीलिअ दाहिणअ तुइ अवि एहं पलोइस्सं॥
—[गाथा—सप्तशती।२।३७।]

५. येनैव सूचितनवाभ्युदयप्रसंगा
मीनाहति स्फुरिततामर सोपमेन।
अन्यं निमील्य नयनं मुदितैव राधा
वामेन तेन नयनेन ददर्श कृष्णम्॥

—[पद्यावली : हर कवि]

गाव [illegible] नई [illegible] यती रती और आलिंगन करती हुई [illegible] नायिका का चित्रण किया है, जिसे बाहु के फड़कने से प्रिय संगम का संकेत [illegible] हो गया है ।[1]

विद्यापति की एक नायिका के भी बायां हृदय, कुच और लोचन फड़क रहे हैं जिन्हे लक्षित करके सखी मंगलमय शकुन का ज्ञापन करती है ।[2]

अंगो के फड़कने के वर्णन 'ढोला-मारूरा दूहा' में भी प्राप्त होते हैं ।[3]

(ग) यात्रा-सम्बन्धी शकुन:—छींक होने पर कहीं नहीं जाना चाहिए, यह लोकविश्वास है। छींक को अपशकुन माना जाता है।

विद्यापति के एक पद का प्रसंग है कि एक गोपी छींक होने पर भी गोरस आदि बेचने के लिए घर से चलती है किन्तु कृष्ण की मुरली-ध्वनि सुनकर उसे अपनी वस्तुओं की बिक्री में सन्देह हो जाता है। पद के वर्णन के अनुसार छींक से भी अधिक मुरली-ध्वनि गोपी का अवरोध और अनिष्ट करती है। गोपी गिर जाती है और उसके चरण कॉटों से क्षत-विक्षत हो जाते हैं ।[4]

---

१ क्षणमपि परयान तुम्बात आश्लिष्यति पुलक मुकुलितैरङ्गैः ।
प्रियसंगमाय स्फुरिता वियोगिनी वामबाहुलताम् ।।
—(आर्या सप्तशती । ३४७।)
बिहारी ने भी शुभशकुन सूचक वामभुजा-स्फुरण का उल्लेख किया है —
बाम बाहु फरकत मिलै, जो हरि जीवन मूरि ।
तौ तोही सौं भेटिहौं, राखि दाहिनी दूरि ।।

२ गुरुजन नयन अन्धकार आओल
बाधल तिमिर विसेख ।
सुभ उर फुरत बाम कुच लोचन
बहु मंगल करि लेख ।।६।।
—[मित्रापुरी, पद—१०७]

३ द्रष्टव्य 'ढोला-मारूरा दूहा', दूहा—स० ५१६ से ५२० तक ।

४ गोरस बिरस बासी बिसेखल
छिकहु छाड्ल गेह ।
मुरलि धुनि सुनि मो मन मोहल
बिकहु भेल सदेह ।।४।।
तीर तरंगिनि कदम्ब—कानन
निकट जमुना—घाट ।
उलटि हेरइत उलटि परलओ
चरन चीरल काट ।।६।।
—[मित्रापुरी पद—६७]

विद्यापति की एक लोकोक्ति में भी छींक सम्बन्धी लोक विश्वास व्यक्त हुआ है--"छिकहि नहिं चली।" --[न० गु०, पद-६१]

(घ) तारा और चन्द्र-दर्शन-सम्बन्धी अमंगल या अपशकुन-अकेले तारे को देखना अशुभ समझा जाता है। इस लोक-विश्वास का प्रकाशन विद्यापति की इस लोकोक्ति में हुआ है--"एकसरि तारा केअओ नहिं देख।" [न० गु० पद--५३६]

एक अन्य पद में सन्ध्या के अकेले तारे और भाद्रपद की चतुर्थी के चाँद को अप्रस्तुत-योजना के रूप में लाकर विद्यापति ने इनसे सम्बन्धित अमंगलपरक लोक-विश्वास का प्रकटीकरण किया है।

पद का वक्तव्य है कि किसी नायिका से उसका प्रियतम रूठ गया है और उसके मुँह की ओर नहीं देखता है। नायिका कहती है कि क्या उसका आनन अकेले सन्ध्या-तारा या भादो की चतुर्थी के चाँद के समान है जो प्रियतम उसकी ओर दृष्टिपात नहीं करते हैं? नायिका की पृच्छा है कि इन दोनों अमंगल-सूचक पदार्थों में से नायिका का मुख किसके समान है जो नायक उससे पराङ्मुख है?[1]

'प्रसन्नराघव' में भी चतुर्थी के चाँद को नहीं देखने के लोक-विश्वास का इस प्रकार उल्लेख मिलता है —

उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते।
चतुर्थीचन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका ॥[2]

---

१ की हम साँझक एकसरि तारा भादव चौठिक ससी।
इथि दुहु माझ कओन मोर आनन जे पहु हेरसि न हसी ॥१॥

—[बेनीपुरी, पद-१५८]

इस पद का पाठ इस प्रकार भी मिलता है —
की हमें साँझक एकसरि तारा, भादव चौठिक चन्दा।
अइसन कए पिआ मोर मुख मानल, मो पति जीवन मन्दा ॥

—[रागतरं० पृ०, पद—७८, सं० स० से]

भादो की चौथ का चाँद और अकेला तारा ये दोनों अदर्शनीय अथच अशुभ समझे जाते हैं। इसी लोक-विश्वास का यहाँ काव्यात्मक प्रयोग हुआ है।

—[लेखक]

२. प्रसन्नराघव, सप्तम अंक, पृ० २२८।

तुलसीदास ने भी प्रसन्नराघव की इस उक्ति से प्रभावित होकर पर-नारी के आनन को चौथ के चाँद की तरह त्याज्य और अदर्शनीय बतलाया है। [1]

(ग) वाणिज्य-जगत् के शकुनमूलक विश्वास—विद्यापति की कतिपय लोकोक्तियों में 'बोहनी' के विषय में दुकानदारों के बद्धमूल विश्वासों की अभिव्यक्ति हुई है। 'जइसन परहोक तइसन बीक', 'पहिल पहलोक मला के हाथ' 'पहिल पहलोक उधारि न देब' आदि कहावतों में व्यावसायिक श्रेणी का यही परंपरागत शकुन-विचार सन्निहित है कि 'बोहनी' की सफलता पर ही व्यवसाय की सिद्धि निर्भर करती है, अतः पहली बिक्री नकद ही नहीं लक्षण-सम्पन्न व्यक्ति के हाथों होनी चाहिए।

(२) भूत-प्रेत-डायन-सम्बन्धी लोकविश्वास और झाड़-फूंक अंधविश्वास और तंत्र-मंत्र :—

(क) भूत-प्रेतः—विद्यापति के युग में भूत-प्रेत पर विश्वास किया जाता था। किसी पर भूत का आवेश आने पर उस युग में भी आज की ही तरह झाड़-फूँक करके प्रेत बाधा दूर की जाती थी। ओझाइन ओझा आदि प्रेत उतारने का मंत्र पढ़कर प्रेत को पछाड़ते थे।

इस अंधविश्वास का विद्यापति ने थोड़े व्यंग्य-विद्रूप के साथ चित्र खींचा है। उनके एक पद का यह प्रसंग है कि कृष्ण 'देवदेयासिनि' या झाड़-फूँक करनेवाली स्त्री का रूप धारण करके गोकुल में घूम रहे हैं। पूरे नगर में यह बात फैल गई है कि ओझाइन आई हुई है। इसी रूप में कृष्ण अपनी प्रेमिका के द्वार पर आकर खड़े हो जाते हैं। प्रेमिका प्रेत-बाधा से अपने को पीड़िता घोषित करती है। सास 'देवदेयासिनि' को झाड़-फूँक करने के लिए घर के भीतर ले जाती है। नायिका पर अतनु-देव अर्थात् कामदेव का आवेश हुआ है जिसे निर्जन में मंत्र पढ़कर झाड़ने की बात 'देवदेयासिनि'

---

१. चतुर्थी के चंद्र और पर-नारी के मुखचंद्र की ओर दृष्टिपात करना अकल्याणकारी होता है। [illegible] रावण को समझाते हैं :—

[illegible] कल्याना।
[illegible] सुमति [illegible] सुख नाना॥
[illegible] लिलार गोसाईं।
[illegible] चौथि के चंद कि नाईं॥

[[illegible]]

कहती है एकान्त में कृष्ण अनतु मन्त्र पढ़कर अनगदेव को झाड़कर नायिका का उपचार करते हैं देव बाधा दूर होती है और सास बहुत भक्ति-पूर्वक 'देवदेयासिनि' को भीख देती है।[1]

यहाँ देव का आवेश, झाड़-फूँक करनेवाली, मंत्र-प्रयोग, लोक-जीवन में 'देवदेयासिनि' के प्रति निष्ठा आदि के प्रसंग लोक-जीवन के अंधविश्वास की सूचना देते हैं।

विद्यापति ने नायक-नायिका के समागम की इस विशेष युक्ति को किंचित् हँसी-ठट्ठे के स्वर में चित्रित किया है। कदाचित् वे भूत, देव आदि को ढकोसला ही मानते हैं।

प्रेतात्माओं और उनका दर्शन करानेवाले करामाती लोगों का उल्लेख 'कीर्तिलता' में भी हुआ है—"मखदूम नरावइ दोस जओ हाथ दवस दस णारओ।।—(कीर्तिलता, २।१९०। डॉ० वा० श० अग्रवाल, पृ० १०८)।

यहाँ प्रेतावाहन करनेवाले या 'हदस' अर्थात् हाजिरात करनेवाले मखदूम के क्रियाकलापों का वर्णन किया गया है। यह 'मखदूम' 'नरकपति' की ही कोटि का पेशेवर प्रेत-विद्या-विशारद है, जो शीघ्रतापूर्वक अंगूठी के नग में मृतात्माओं को दिखलाता है जिससे देखनेवाले संतापित और भीत होते हैं। जौनपुर के बाज़ार में ऐसे चमत्कारी मखदूम का वर्णन स्वाभाविक ही है।

---

१. गोकुल देवदेयासिनि आओल नगरहि ऐसे पुकारि।
अरुण वसन पैन्हि जटिल बेस धरि कान्ह द्वार माझ ठारि।।२।।
सुनि धनि जटिला तुरति चल आओल हेरइत चमकित भेल।
हमर बधुक रीति देखि जनि आनमति कहि मंदिर लइ गेल।।४।।
देवदेयासिनि कान।

जटिला बचन मुखामुखि निरखहि एक दीठि हेरइ बयान।।६।।
कह तब अनतु देव हथे पाओल हृदि-मधि पइसल काल।
निरजन छोड़ि मंत्र जद झाड़िए तब इह होएब भाल।।८।।
एत सुनि जटिला घर दोहे लेअल निरजन दुहु एक ठाम।
सब जन निकसल बाहर बइसल पुरल कान्ह मन काम।।१०।।
बहु खन अतनु मन्त्र पढ़ि झारल भागल सब सेहो देवा।
देवदेयासिनि घर सयँ निकसल चातुरि बूझब केवा।।१२।।
जटिला बहुत भकति करि हरखित कनक भीख आनि देल।
कह कविसेखर भीख लिए तब सेहो देयासिनि गेल।।१४।।
(बेनीपुरी, पद—२६९)

(ख) झाड़-फूक (१) विद्या [illegible] कि कृष्ण योगी के वेश में नायिका का हाथ [illegible] । [illegible] जटिला के साथ नायिका बहुत देर से दरवाजे पर खड़ी है । [illegible] होकर निकलती हुई द्वार पर ठहरने का कारण पूछती है । [illegible] कि नायिका का अमंगल संभावित है—उसके पति का अमंगल हो [illegible] है । सास घबराकर बाहर आती है । योगी वेशधारी कृष्ण [illegible] हाथ देकर देखने के लिए कहती है । योगेश्वर हथेली की [illegible] कर अमंगल की संभावना का कथन करते हैं । वे निर्जन [illegible] की सेवा करने के लिए कहते हैं । [इस तरह वे [illegible] रहे हैं ।] योगी कहते हैं कि पूजा के अनेक तन्त्र-मन्त्र हैं, [illegible] उन्हें नहीं है । लेकिन सास कहती है कि उनके [illegible] दिखेगा !

सास का प्रस्ताव है कि योगी [illegible] के लिए नायिका को झाड़-फूँक कर दें । उसके बाद योगी एकान्त में [illegible] 'मन्मथ मन्त्र' पढ़कर झाड़ने के छल से समागम-लाभ करता है । [illegible] प्रकोष्ठ से निकल कर सास से योगी परामर्श देता है कि जब नायिका [illegible] की आराधना करने के लिए जाए तब कोई भी विधवा उसके साथ न जाए । इस तरह विधवा जटिला के आतंकमय अनुशासन से नायिका को मुक्त [illegible] कृष्ण आगामी मिलन को भी निर्बाध बना देते हैं ।[1]

---

१. जटिला सास फुकरि नहि बोलल [illegible] ।
ललिता कहल अमंगल सूनल [illegible] ॥७॥
सुनि कह जटिला [illegible] मर्थे [illegible] होय ।
बहुरिक पानि धरि हेरह जोगी [illegible] ॥८॥
जोगेस्वर फेरि बहुरिक पानि धरि [illegible] ।
कहे एक [illegible] विमंकयोवन [illegible] ॥९॥
पुजनक तन्त्र-मन्त्र बहु [illegible] ।
जटिला कह [illegible] ॥१०॥
एत सुनि दुहजन मन्दिर पइसल [illegible] ।
मनमथ मन्त्र पढ़ाओल [illegible] ॥११॥
पुनु दुहु जन मंदिर सर्वं निकसल जटिला [illegible] ।
अब इह गौरि [illegible] ॥१२॥
एत कहि सबहु चलति निज मन्दिर [illegible] ।
सियापति कह [illegible] सेखर [illegible] ॥१३॥
—([illegible], पद —१३२)

इस पद में ताम्र लेपने, गान, नृत्य, पीकदान आदि से सम्बन्धित कार्य-कलापों और विश्वासों का काव्य में सौंदर्य-पूर्ण चित्रण किया है।

(२) विद्यापति के इस पद का वक्तव्य है कि छद्मवेश शिव को देखकर गौरी मूर्च्छित हो जाती है। सखियाँ वेषधारी शिव से कहती हैं कि वे अपना गुण या सम्मोहन दूर कर लें, ताकि गौरी की मूर्च्छा टूटे। वे कहती हैं कि वेषधारी ने राजकुमारी को दीठ लगा दी है। कुछ सखियाँ परामर्श देती हैं कि ओझा को बुलाकर नचाना चाहिए ताकि राजकुमारी पर से भूत का प्रकोप दूर हो सके, उसका सम्मोहन टूट सके।[1]

यहाँ दीठ लगना तथा झाड़-फूँक करने वाले ओझा का स्पष्ट उल्लेख है। इनसे लोक-विश्वास का ही प्रकटीकरण होता है।

दीठ लगने, मंत्र पढ़े जाने, ग्रह-बाधा होने और ज्योतिषी से उपचार कराने की बातें विद्यापति के एक अन्य पद में भी वर्णित हैं।[2]

(३) साँप के विष को उतारने के लिए झाड़-फूँक :—लोक-विश्वास के अनुसार साँप के डँसने पर मांत्रिक या गारूड़ी के द्वारा विष की झाड़-फूँक की जाती है। सर्प-विष को झाड़ने की बात आदिम काल से ही प्रचलित है। देहातों में अभी भी सर्प-दंश का उपचार झाड़-फूँक से ही होता है। झाड़-फूँक का बहुत-कुछ मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पड़ता है।

विद्यापति के इस पद में कहा गया है कि मदन-भुजंग से दंशित बाला के विष को गारूड़ी कृष्ण ही झाड़ सकते हैं। मदन-भुजंग का विष उतारने

---

१. दुर कर गुनपन अरे ॲगधारी
कौं दिठिअओलए राजकुमारी।
केओ बोल देपए दोठ जनु काहू
केओ बोल ओझा आनि (न) चाह ।। —[परिषद्—५०, पद—७५४]

२. हे हरि पेखलों मे बर नारि।
न जीवए बिनु कर-परस तोहारि ।।६।।
केओ-केओ जपय वेद दिठि जानि।
केओ नवग्रह पुज जोतिअ आनि ।।८।।
केओ केओ कर धरि धातु बिचारि।
बिरह-निखिल कोइ लखए न पारि ।।१०।। —(बेनीपुरी, पद—५४)

का उपाय [illegible] करना हो है [illegible] भी है [illegible] है गरुड़ का मालिक होने का जो गौरव है और गरुड़ से सर्प भय खाता है, इसलिए कृष्ण से ही मदन-भुजंग का विष उतर सकता है।

लोक-विश्वास है कि शिशु सर्प का [illegible] मंत्र से नहीं उतरता है। बाल भुजंग पर मंत्र-शक्ति का प्रभाव प्रायः नहीं पड़ता है, इस आशय की लोकोक्तियाँ विद्यापति के पदों में प्राप्त होती हैं।[2]

सर्प-दंशन के संबन्ध में यह भी लोक-विश्वास है कि काट लेने के बाद यदि साँप पुनः दंशित स्थान पर काट ले तो उसके विष का प्रभाव नष्ट हो जाता है। कदाचित् यह विश्वास 'विषस्य विषमौषधम्' के ही वर्ग का है। सर्प-विष से संबन्धित यह लोक-विश्वास विद्यापति के भी एक पद में प्राप्त होता है।[3]

(ग) डायन-संबंधी प्रवाद:—बुरी-से-बुरी स्त्री भी अपने पड़ोस में रहने वालों का बुरा नहीं करती है। चोर भी पड़ोस में चोरी नहीं करता है।

'डायन किसी को खा लेती है'—यह अंधविश्वास है, किन्तु वह भी अपनी पड़ोसिन का अपकार नहीं करती है, यह लोक-प्रवाद है।

विद्यापति ने भी अपने एक पद्य में डायन या बुरी औरत के लिए 'मन्दिउ' शब्द को प्रयुक्त किया है। पद्य की नायिका अपनी सखी से कहती है कि डायन भी दूसरों को ही खाती है, अपनी पड़ोसिन को छोड़ देती है—उसका अपकार नहीं करती है।[4]

---

१. केओ बोल मन्त्र कान तर जोलि।
केओ कोकिल खेद डाकिनि बोलि ॥८॥
अरे अरे अरे कान्हु की रमसि बोरि।
मदन-भुअँग डस बालहि तोरि ॥१०॥
भनइ विद्यापति एहो रस भान।
एहि विष झारहि एक पँच कान ॥१२॥ —(बनापुरी, पद—२११)

२. (क) "परबोध न माने जनि बाल भुअंग।" —(न० गु०, पद—१५४)

(ख) "मन्त्र न सुनए जनि बाल भुजंग।" —(न० गु०, पद—२१३)

३. भुजङ्गिनि डंसि पुनहि यदि दंसय,
तबहि समय विष जाइ। —(न० गु०, पद—३०)

४. तजे ओठपानरि कि बोलिबो तोहि
बड़कए अपथ चलओलए मोहि॥
तोरा करम धरम पए साखि
मन्दिउ खाए परउसिनि राखि॥ —(मिथिला-पदावली, पद—[illegible])

(घ) बलि :—धार्मिक अनुष्ठानों में या वैसे भी पशु-बलि या नर-बलि लोक-विश्वास का ही एक अंग है जिसका संबंध निश्चय ही तंत्र-मंत्रमूलक आदिम विधियों से स्थापित किया जा सकता है। 'कीर्तिलता' में मुसलमानों द्वारा 'बिसमिल्ला' कहकर पशु-वध करने तथा हिंदुओं-द्वारा पशु-बलि का संकेत मिलता है—' कतहु मिसिमिल कतहु छेद ।।''

—(कीर्ति० २।१९५। डॉ० अग्रवाल, पृ० ११२)

(ङ) पाप - पुण्य - सम्बन्धी लोक-विश्वास :—अपने पाप-मुक्त चरित्र की सफाई देने के लिए स्वर्ण का स्पर्श करके सौगंध खाना सब तरह से प्रामाणिक और विश्वसनीय है। सोना छूकर मिथ्याभाषण करना विद्यापति के युग के धर्मभीरु मनुष्य के लिए असंभव ही था। विद्यापति के एक पद में इस लोक-विश्वास का बड़ा ही सुन्दर विनियोग पाया जाता है:—

ए धनि माननि करहु संजात ।
तुअ कुच हेम-घट हार भुजंगिनि ताक उपर धर हाथ ।।२।।
तोहे छोड़ि जदि हम परसब कोय ।
तुअ हार-नागिनि काटब मोय ।।४।।

— (बेनीपुरी, पद १३७)

यहाँ नर्मकुशल नायक-नायिका के निकट अपने अपराध को छिपाने और विश्वास जमाने के लिए जो शपथ ले रहा है उसमें विवेच्य लोक-विश्वास को काव्यात्मक वैदग्ध्य-सिद्धि का साधन बनाया गया है।

जिस तरह झूठ बोलनेवाला पाप-भीति से सोना नहीं छूता है उसी तरह पाप-भीत हिन्दू भी 'यम' का सामना करने से घबराता है। हिन्दू-जाति के मन में सनातन काल से यह विश्वास घर किए हुए है कि यम के दरबार में अपने कर्मों की सफाई देनी पड़ती है और पाप के परिणाम भुगतने पड़ते हैं। मृत्यु के बाद यम के आगे जवाब देना पड़ता है, इस लोक-विश्वास को भी विद्यापति ने व्यक्त किया है:—

ए हर गोसाञि नाह ! मोहे जनु देह उपेखी ।
जम आगाँ मुँह उतर डरें छाडत जबे बुझाओत लेखी ।।

—(प० प०—१२५)

(आ) रीति—रिवाज

इसके अंतर्गत लोककृत्यों, लोक-प्रथाओं, लोकोत्सवों आदि की गणना होती है।

(क) संस्कार

जन्म, विवाह आदि संस्कारों, पूजोपचारों, पर्व-रीतियों तथा सामूहिक भोज से संबंधित लोककृत्यों के आधार पर विद्यापति ने अपने कई पदों का सुन्दरतापूर्वक निबन्धन किया है।

(१) शिशु-जन्म —वसंत-शिशु के जन्म के अवसर पर विद्यापति ने लौकिक रीतियों का जो वर्णन किया है उसमें मिथिला के लोक-जीवन की आंचलिक विशेषताएँ चित्रित हुई हैं। शिशु के जन्मोत्सव के ये विवरण बहुत चित्रात्मक, सच्चे और लोकपरक है।

विद्यापति के पद की अर्थ-योजना इस प्रकार है कि श्रीपचमी के दिन वसंत का प्रसव गर्भवती प्रकृति करती है और तदनन्तर विविध लोकाचारों का ताँता-सा बँध जाता है। वनस्पति-रूपी धाय, जन्म के बाद युवतियों के नृत्य, मंगल-गान, मलयानिल से शिशु के बचाव के लिए ओट करना, माधवी पुष्प की गजमुक्ता, बन्दनवार, 'महुअरि' गीत, तूर्यनाद, शखनाद, बालक को मधु चटाना, पद्मनाल का कटि-सूत्र-बंधन, बच्चे को बघनखा पहनाना, 'हरउद' गीत, लोरी-गायन तथा बच्चे द्वारा चंद्र-गोलक का देखा जाना, जन्मपत्री, गणित-गणना और नामकरण आदि बातों के वर्णन में लोक-रीतियों का सम्यक् प्रकाशन हुआ है।

वसंत के शरीर पर उबटन लगने तथा आँखो में काजल लगने के वर्णन में भी लोक-व्यवहार का ही ज्ञान प्रकट होता है। महुअरि तथा हरउद-गायन, मधु चटाने, कटि-सूत्र तथा बघनखा पहनाने आदि के वर्णनों के स्रोत तो नितांत लौकिक ही हैं।[1]

---

१. माघ मास सिरि पंचमी गँजाइलि नवम मास पंचम हरुआई।
अति घन पीड़ा दुख बड़ पाओल बनसपति भेल धाई हे॥२॥
सुभ खन बेरा सुकुल पक्ख हे दिनकर उदित-समाई।
सोरह सम्पुन बतिस लखन सह जनम लेल ऋतुराई हे॥४॥
नाचए जुवतिजना हरखित मन जनमल बाल मधाई हे।
मधुर महारस मंगल गावए मानिनि मान उड़ाई हे॥६॥
बह मलयानिल ओत उचित हे नव घन भओ उजियारा।
माधवि फूल भेल मुकुता तुल ते देल बन्दनवारा॥८॥
पाँअरि पाँडरि महुअरि गावए काहरकार धतूरा।
नागेसर-कली संख धुनि पूरए तकर ताल समतूरा॥१०॥

(२) विवाह:—विवाह-संबंधी लौकिक कृत्यों और रस्मों के भी विवरण विद्यापति के पदों में उपलब्ध होते हैं। वसंत के विवाह का वर्णन भी विद्यापति ने वसंत-जन्म की ही तरह रुचिर पद्धति पर किया है। लता और वृक्ष का ही मंडप या मँड़वा बना है। उसकी भित्ति को चन्द्रमा ने मानों अपनी उज्ज्वल-किरणों से धवलित कर दिया है अर्थात् उस पर चूना की पुताई कर दी है। भूमि पर के मांगलिक चित्र ऐपन के रूप में पद्मनाल हैं। विवाह में लाल परिधान पहना जाता है और यहाँ पल्लव ही रक्त परिधान है।

कानन-स्थली में वसंत-विवाह हो रहा है। भ्रमरियाँ मंगलगान कर रही हैं। द्विजश्रेष्ठ कोकिल मंत्र पढ़ा रहे हैं। विवाह का संकल्प पढ़ते समय जो हस्तोदक लिया जाता है वह मकरन्द है। धीर समीर और चाँद बारात वाले हैं। किंशुक तोरण है। बेला के फूलों का मंगल खील या लावा फैला हुआ है। केसर-कुसुम के पराग का ही सिंदूर-दान हुआ है। मालिनियों के मान का ही यौतुक या दहेज दिया गया है।[1]

मधु लए मधुकर बालक दए हलु कमल-पखुरी लाई।
पओनार तोरि सूत बाँधल कटि केसर कएलि बघनाई ॥१२॥
नव नव पल्लव सेज ओछाओल सिर देल कदम्बक माला।
बैसलि भमरी हरउद गावए चक्का चन्द निहारा ॥१४॥
कनअ केसुअ सुति-पत्र लिखिए हलु रासि नछत कए लोला।
कोकिल गनित-गुनित भल जानए रितु बसंत नाम थोला ॥१६॥
× × ×
बाल बसन्त तरुन भए धाओल बढ़ए सकल संसारा ॥१८॥
दखिन पवन घन अंग उगारए किसलय कुसुम परागे।
सुललित हार मंजरि घन कज्जल अखितो अंजन लागे ॥२०॥
नव बसंत रितु अनुसर जौवति विद्यापति कवि गावे।

***

१ लता तरुअर मंडप जीति [बेनीपुरी, १७८]
निरमल ससधर धवलिए भीति ॥२॥
पउँअ नाल अइपन भल भेल।
रात पटोरन पलव देल ॥४॥
देखह माइ हे मन चित लाय।
बसन्त-विवाह, कानन थलि आय ॥६॥
मधुकरि-रमनी मंगल गाव।
दुजवर कोकिल मंत्र पढ़ाव ॥८॥
करु मकरन्द हथोदक नीर।
विधु बरिआती धीर समीर ॥१०॥

वसंत के वैवाहिक संस्कार के इस वर्णन में लोकाचार का पूरा प्रकाशन हुआ है। मंडप, ऐपन, रक्त परिधान, मंगलगान, मंत्र-पाठ, हस्तोदक, बाराती, सारण, लावा, सिंदूर दान, कौतुक आदि सभी बातों के लौकिक चित्र ही दृष्टिगत होते हैं।

एक दूसरे पद में भी वसंत-दूल्हे के विवाह का लौकिक वर्णन मिलता है। उसके बैठने के लिए पल्लव का पादपीठ या आसन है। श्वेत कमल ही मानो पत्ते से धवलित पुरहर या मंगल-कलश है। मकरन्द ही गंगाजल है। लाल अशोक के फूल ही दीप हैं। अच्छा दिन है, शुभ लग्न है। वर वसंत का 'चुमाओन' हो रहा है। संपूर्ण चाँद ही दही का थक्का है। घूम-घूम कर भ्रमर 'हकार' या बुलावा दे रहे हैं कि इस अवसर पर स्त्रियाँ जुटें। किंशुक का फूल ही सिंदूर के समान जान पड़ता है। केतकी के पराग से ही पटवास नामक सिंदूर का शृंगार वधू की माँग में किया गया है।[१]

यहाँ पुरहर, गंगाजल, दीप, चुमाओन, दही, हकार, सिंदूर, पटवास आदि के वर्णन से विवाह की लौकिक रीतियाँ हमारे सामने स्पष्ट हो जाती हैं।

कनअ किंसुक सुति तोरन तल।
लावा विथरल बेलिक फुल ॥१३॥
केसर कुसुम कर सिंदूर दान।
अओतुक पाओल मालति मान ॥१४॥
खेलए कौतुक नव पँचबान।
विद्यापति कवि दृढ़ कए मान ॥१६॥

—[बेनीपुरी, पद—१७७]

१ अभिनव पल्लव बइसक देल।
धवल कमल फुल पुरहर भेल ॥२॥
[illegible] मकरन्द [illegible] पानि।
अरुण असोक [illegible] आन ॥४॥
[illegible] [illegible] दिवस [illegible]।
करिअ चुमाओन [illegible] ॥६॥
[illegible] सुधानिधि [illegible]।
[illegible]।
टेसु कुसुम [illegible]।
केतकि-धुलि [illegible] ॥१०॥

—[बेनीपुरी — [illegible]]

शिव-विवाह के वर्णन में भी लौकिक रीतियों को विद्यापति ने संकेतित किया है। शिव बसहा पर चढ़कर आए हैं, जिसके खुर टपर-टपर बज रहे हैं और उनका मुंडमाल लटकटा रहा है। भाँग खाए हुए डमरू बजाते शिव आए हैं। उनको देखकर सास ने ऐपन मिटा दिया है और पुरहर फोड दिया है। अब चौमुख दीप कैसे बले ? पुत्री को लेकर कुपिता 'मनाइन' मण्डप में बैठी है।[1]

यहाँ ऐपन, पुरहर, चौमुख दीप आदि के प्रसंग लोकपरक ही हैं।

डॉ० तेजनारायण लाल ने पुरहर, पातिल, ऐपन या 'अरिपन' आदि की शैव-प्रतीकों के रूप में व्याख्या करते हुए लिखा है :—"मिथिला में विवाह-संस्कार के समय 'पुरहर' (कलश पर चित्रण) और पातिल (एक मिट्टी का छोटा बर्तन जिसे लाल रंग से रँग देते हैं) का प्रयोग होता है। 'पुरहर' को पुरारी यानी 'शिव' और पातिल का 'पार्वती' के रूप में लिया जाय तो इससे शैवधर्म का प्रभाव दीख पड़ता है। मण्डप की सतह पर जो 'अरिपन' बनाया जाता है वह शब्द "अहिफन" का अपभ्रंश रूप जान पड़ता है। 'अहिफन' से तात्पर्य है—'कुण्डलिनी' का प्रतीक। 'कमल' के फूल का जो चित्र बनाया जाता है वह हृदय का संकेत है और मणिपुर नाभिकुण्ड का।"[2]

ऐपन वस्तुतः मिथिला की भूमि-मंडन-कला है। इस भूमि-चित्र-कला की तुलना बंगाल की अल्पना लोक-कला, उत्तर प्रदेश की चौक पुरने की कला, महाराष्ट्र-गुजरात की रंगोली कला, राजस्थान के मेहदी माँडने और दक्षिण भारत के कोलम् भू-चित्रों से की जा सकती है।

पुरहर पर का चित्रण भी लोक-कला का ही नमूना है। मिथिला के कोहबर-घरों में भित्तियों पर लोक-कला के स्वच्छंद रूपों को देखा जा सकता है। घरों में बनने वाली कथाओं पर भी कसीदा काढ़कर जो चित्र बनाए जाते हैं उनमें लोक-कला के मौलिक और प्राणवान रूपों की प्रतिष्ठा दिखलाई पड़ती है।

---

१. कहि विधि बर गन आओल एहन कातर जोगी।
डामर-डमर कर बसहा भलछ छटर-छटर रुंडमाल॥
भकर भकर शिव भाँग भकोसथि डमरू लेल कर लाय॥
ऐपन मेटल पुरहर फोड़ल बर किमि चौमुख दीप॥
धिआ लै मनाइनि मंडप बइसलि गाबिय जनु सखि गीत॥
भनहि विद्यापति सुनु ए मनाइनि ई थिका त्रिभुवन ईस॥

—(बेनीपुरी, पद—२४८)

२. द्रष्टव्य 'मैथिली लोकगीतों का अध्ययन' [डॉ० तै० ना० लाल], पृ० ६९।

'वर्ण रत्नाकर' [illegible] भी विवा[illegible] [illegible] शास्त्रीय विधियों पर अधिक [illegible] [illegible] लोकाचार का बहु रूप नहीं है जो विद्यापति [illegible] है। [illegible] 'लाज और सिन्दूर-दान के उल्लेखों को ही [illegible] है।[1]

ज्योतिरीश्वर के वर्णन में अधिक [illegible] विद्यापति के हैं।

(२) पूजोपचार —ब्राह्मण-कुलोत्पन्न, [illegible] और मिथिला के धार्मिक वातावरण के [illegible] विद्यापति की [illegible] -कल्पना-योजना में उनके व्यक्तित्व, वातावरण तथा कर्मकाण्ड के [illegible] का प्रकाशन हुआ है—

लोचन नीर तटनि निरमाने। [illegible] ॥३॥
सरस मृनाल [illegible] जपमाला। [illegible] नाम [illegible] ॥४॥
वृन्दावन कान्ह धनि तप करई। हृदय-वेदि मदनानल बरई ॥६॥
जिव कर समिध समर कर आगी। [illegible] होएब भागी ॥८॥
चिकुर बरहि [illegible] कर लेअई। [illegible] पयोधर देअई ॥१०॥
भनइ विद्यापति सुनह मुरारी। [illegible] नारी ॥१२॥

—(बेनीपुरी, पद— २१०)

इस शृंगारिक पद में यज्ञीय [illegible] पूजन-कल्पना का समाहार मिलता है। यह एक वियोगिनी का चित्र है जिसमें कर्मकाण्ड के लौकिक कृत्यों से सबद्ध बिम्बों का सुन्दर प्रयोग लक्षित किया जा सकता है। वैदिक पूजा-पद्धति में लौकिक परंपरा का यह दिग्दर्शन अन्तर्विरोधमूलक नहीं, वेद की लोक-स्वीकृति का परिचायक है। गृह्यसूत्रों में ही नहीं [illegible] मीमांसा-ग्रंथों में भी लोक-कृत्यों को आत्मसात् कर लिया गया है तथा वेद-विहित विधियाँ भी लोक-जीवन तक पहुँच कर 'लोक' की सपत्ति बन गई है।

विरहिणी लोचनों के नीर से नदी का निर्माण करके उसमें नहाती है। हाथों के लीलाकमल या मृणाल का [illegible] जपमाला बनाती है। वह दिन-रात हरिनाम जपती रहती है। [illegible] ही नहीं प्रेमी कृष्ण भी हैं। वह धन्या तापसी [illegible] कर रही है। उसकी हृदय-वेदिका में कामानल जल रहा है। [illegible] को समिधा या लकड़ी तथा स्मरण को अरणी बनाकर वह [illegible] होम कर रही है।

१. [क] द्रष्टव्य वर्ण रत्नाकर [ग] अथ विवाह वर्णना पृ० ३०–३५

[ख] 'सबनलं' व 'लाजा होम' की वैवाहिक विधि लोकाचार-जन्य ही है।—[लेखक]

यहाँ बद्ध-केशभार के लिए कुश की कल्पना प्रयुक्त हुई है, कि नायिका शिखि-पुच्छ के समान केश-कलाप को कुश की तरह हाथों में लिए है। वह प्रेम-पुजारिन पूजा के फलोपहार के रूप में पयोधरों का निर्माल्य चढ़ा रही है।

इस पूरे पद में पूजाचार की विधियों और सामग्रियों से ही बिम्बों का चयन किया गया है। स्नान करके पूजा करने, सुमरणी, जप, तप, वेदिका में आग के धधकने, समिधा, अरणी, होम, कुश, उपहार आदि के चित्रों से धार्मिक पूजन-विधि के तत्वों का ही विवेचन इङ्गित होता है।

(४) युद्ध-रीतियाँ—विद्यापति के निम्नलिखित पद में सैन्य-व्यवहारों और युद्ध-सम्बन्धी लोकाचारों से अप्रस्तुतों का चयन किया गया है—

त्रिबलि तरंगिनि पुर दुगम जानि मनमथ पत्र पठाऊ।
जोबन-दलपति ताहि समर लागि ऋतुपति दूत बढ़ाऊ ॥२॥
माधव, अब देखु साजिए बाला।
तसु सैसव तोड़े जे सतारल से अब आओत पाला ॥४॥
कुण्डल चक्र तिलक अंकुश कए चन्दन कवच अभिरामा।
नयन कमान कटाख बान दए साजि रहल अछि बामा ॥६॥
सुन्दरि साजि खेत चलि आइलि, विद्यापति कबि भाने।

—(बेनीपुरी, पद—१००)

त्रिबली ही खाई है। कामदेव ने पत्र प्रेषित किया है। यौवन ही बलाधिकृत है। वसन्त दूत के रूप में आया है। सुन्दरी युद्ध के लिए बिल्कुल तैयार है। कुण्डल के चक्र, तिलक के अंकुश तथा चन्दन-लेप के कवच एवं चितवन-बाण के साथ युवती युद्ध के लिए बिल्कुल सन्नद्ध है। शृंगार के प्रसंग में युद्ध-सम्बन्धी ये बिम्ब बड़े ही व्यंग्यात्मक हैं।

'कीर्तिलता' के वीर रस के कवि और राजाश्रित तथा विश्रुत राज-पुरुष विद्यापति यदि सैन्य-कल्पना का प्रयोग करते हैं तो यह बिल्कुल स्वाभाविक है। कवि के मन में सामन्तीय युद्ध-व्यवस्था के जो संस्कार हैं वे ही इस पद के बिम्ब-विधान में चित्रित हुए हैं।

यहाँ पत्र-प्रेषण, दूत-प्रेषण आदि युद्ध-रीतियों के संकेत के साथ-साथ खाई, दलपति, अस्त्र-शस्त्र आदि के बिम्बों से जिस युद्ध-कृत्य का परिचय प्राप्त होता है उसका स्वरूप लोकतान्त्रिक ही है।

(४) श्राद्ध भोज—विद्यापति [illegible] भोजन
सबल दकट लोक रीति से आपकी अभिज्ञ [illegible] कहता है—

सहुअहि [illegible] परबस पेम
पातक [illegible] [illegible] ॥ —([illegible])

धर्मशास्त्रानुसार श्राद्ध में भोजन करना मना है किन्तु यह भी सच है कि बिना ब्राह्मणों के भोजन किए श्राद्ध-कार्य पूरा हो ही नहीं सकता है। विद्यापति इस लोक-व्यवहार से अनभिज्ञ नहीं हैं कि किसी के मरने के बाद भोज खाना धर्मशास्त्र से विहित नहीं होने के कारण पाप होता है, किन्तु पातक से डरते हुए भी श्राद्ध-भोज खाया ही जाता है। कवि ने [illegible] लोक-जीवन के श्राद्ध-भोज का दृष्टांत देकर संकटापन्न परवश परकीया-प्रेम या परपुरुष-प्रेम करने की बाध्यता का निरूपण किया है।

(ख) लोक-प्रथाएँ

(१) बेमेल विवाह—वृद्ध वर के साथ तरुणी का विवाह तथा तरुणी के साथ बालक का विवाह अदूरदर्शितापूर्ण लोक-प्रथा के ही अन्तर्गत आते हैं। विद्यापति-पदावली में लोक-जीवन की इस विषमता की साहित्यिक आलोचना प्राप्त होती है। कवि ने इस दूषित लोक-प्रथा को उपहासात्मक संदर्भों में रखकर उस पर प्रश्नचिह्न लगाने का साहस दिखलाया है।

विद्यापति के महेशवाणी-साहित्य में अपने बूढ़े जामाता शिव को देखकर क्रुद्ध हो जानेवाली 'मनाइन' का जो चित्र प्राप्त होता है वह पुत्री की हित-कामना में व्यग्र रहनेवाली ममतामयी माँ का प्रतिनिधित्व करनेवाला है। 'मनाइन' अपनी पार्वती को बूढ़े वर के हाथों में सौंपने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं है। नवयुवती पार्वती और वृद्ध शिव के परिणय का वह प्रबल विरोध करनेवाली दिखलाई गई है। नारद-जैसे घटक को वह खरी खोटी ही नहीं सुनाती है बल्कि उसकी दाढ़ी नोचने का इरादा करती है। वह घर में रार मचा देती है और अपनी पुत्री के साथ गृह-परित्याग को उद्यत हो जाती है। सात्विक क्रोध से बिफरी हुई 'मनाइन' बूढ़े वर और उसकी बारात का अनादर करने के लिए कृतसंकल्प जान पड़ती है और उसके वक्तव्य में वृद्धविवाह की सामाजिक कुरीति पर कशाघात करने की अपूर्व क्षमता दृष्टिगत होती है—

हम नहि आजु रहब एहि आँगन जों बुढ़ होएत जमाई, गे माई।
एक त बइरि भेल बीध बिधाता दोसरे धिया केर बाप।

तेसरे बहरि भेल नारद बाभन जे वढ आनल जमाई, गे माइ ।
पहिलुक बाजन डामरु तोरब दोसर तोरब रुण्डमाल ।
बरद हाँकि बरिआत बेलाएब धिया लए जाएब पराई, गे माई ।।
धोती लोटा पतरा पोथी सेहो सम लेबन्हि छिनाई ।
औं किछु बजता नारद बाभन दाढी धए देब घिसिआई, गे माई ।।
—(बेनीपुरी, पद—२४२)

एक अन्य पद में वृद्ध शिव को जामाता के रूप मे देखकर कोपवश 'ऐपन' मिटानेवाली एवं पुरहर फोडनेवाली 'मनाइन' के माध्यम से विद्यापति ने उस लोक-सामान्य माँ का चित्रांकन किया है जो अपनी बेटी को कथमपि किसी बूढ़े के गले मे नही बाँधना चाहती है—

ऐपन मेटल पुरहर फोरल बर किमि चौमुख दीप ।
धिआ लै मनाइनि मंडप बइसलि गाबिए जनु सखि गीत ।।
—(बेनीपुरी, पद–२४४)

इस तरह हम देखते है कि शिव-विवाह की आड़ मे वृद्ध-विवाह की सामाजिक कुप्रथा की छीछालेदर करके विद्यापति अपने रूढिभंजक एवं प्रबुद्ध साहित्यिक व्यक्तित्व का अच्छा परिचय देते हैं ।

विद्यापति-पदावली में बाल-विवाह की लोक-प्रथा का भी व्यंग्यमय वर्णन उपलब्ध होता है । इस लौकिक कुसंस्कार पर कवि ने हास्यगर्भित मृदु प्रहार करके उद्दिष्ट व्यंग्यालंबन—बेटी के बाप—की सरे आम पगड़ी उछाली है । उसने विवाहिता तरुणी के उद्‌गारों को इस प्रकार उपन्यस्त किया है कि बेमेल विवाह के तत्कालीन कर्त्ता-धर्त्ता भीतर-ही-भीतर तिलमिला गए होंगे—

पिया मोर बालक हम तरुनी । कोन तप चुकलौंह भेलौंह जननी ।।
पहिर लेल सखि एक दछिनक चीर । पिया के देखैत मोर दगध सरीर ।।
पिया लेली गोद कै चललि बजार । हटिया के लोग पूछे के लागु तोहार ।।
नहि मोर देवर कि नहि छोट भाइ । पुरब लिखल छल बालमु हमार ।।
बाट रे बटोहिया कि तुहु मोरा भाई । हमरो समाद नैहर लेने जाउ ।।
कहिहुन बाबा के किनए धेनु गाइ । दुधवा पिआइ कैं पोसता जमाइ ।।
—(बेनीपुरी, पद-२६३)

पति बालक है और पत्नी तरुणी है, जो अपने विवाह से प्रसन्न नहीं है । पति को गोद में लेकर जब युवती पत्नी बाजार जाती है तो लोग उस बालक से

के विषय में पढ़ा करते हैं अपने बालक बालम की जननी का
ाह करने वाली वह नारी अन्तर्व्यथा की आग में दग्ध हो रही है।
के द्वारा अपने मैके संवाद भेजती है कि हे पथिक, पिता से कहना
कर गाय भेज दें, ताकि दूध पीकर उनका जामाता पुष्ट हो सके।
। यह व्यंग्य बड़ा ही सूक्ष्म और वेधक है। उन्हों ने युवती पत्नी के
अनुभूति से द्रवित होकर बेमेल विवाह के चलन को जो आड़े हाथों
में उनके लोकात्मक कवित्व के दर्शन होते हैं।

पर्दा-प्रथा :—विद्यापति की निम्नलिखित पंक्ति में लोक-जीवन में
निर्वाह की सूचना मिलती है—"टाट टटले आड्डन बेकत सबे
"—(प० प० १८५)।

का वक्तव्य है कि सभी लोग पर्दा रखते हैं। नग्नता अच्छी नहीं
घर-आँगन के पर्दे के लिए टाट का दरवाजा या घेरा लगा देते
बिल्कुल ही जनसामान्य के जीवन से संबद्ध है। विद्यापति घर
नितान्त लौकिक चित्र ही नहीं प्रस्तुत करते है अपितु पर्दा रखने
त्ति का भी परिचय देते है। लोक-मानस में अपनी नग्नता को
पुराकाल से ही बद्धमूल है। 'मड़े परदा राख'—यह लोक-मनो-
था-विशेष की परिचायिका उक्ति ही प्रतीत होती है।

ती-प्रथा :—पति के देहावसान के बाद आत्यंतिक विरह से त्राण
चीन काल की नारियाँ आग में जल मरती थीं। भारत के
हास में यह प्रथा राजपूत रमणियों की आन से सबद्ध होकर
। में दिखलाई पड़ती है। विद्यापति की एक बिरहिणी भी
अभाव में धधकती चिता में समा जाना चाहती है:—

न सेज हिय सालए रे पिया बिनु घर मोयँ आजि।
नति करओ सहलोलिनि रे मोहि दे अगिहर साजि॥

—(बेनीपुरी, १८९)

ना' तत्कालीन सती-प्रथा का सूचक है। इस प्रसंग में यह
: लापता शिवसिंह की रानी लखिमा ने भी बारह वर्षों की
गिन-समाधि ले ली थी। कदाचित् इस विरह-गीत में कवि
मनोभावों को रूपायित करने का प्रयास किया है।

ना गोदवाने की परिपाटी:—हालतक मिथिला की स्त्रियाँ
ोदने के चित्र और लेख गोदवाती रही हैं। अभी भी निम्न-

बग की स्त्रियों में इसका चलन है जो पशवर खोदनाइनी स्त्रियों के रस सिक्त गीतों को सुनती हुई उन से गोदने गोदवाती है।

विद्यापति ने अपने एक पद में नायिका के गोदने का काव्यात्मक विनियोग प्रदर्शित किया है। उन्होंने कृष्ण पर बिगडकर सभी कृष्ण और नील वर्णों के पदार्थों को हटाने, मिटाने या नष्ट कर देने के प्रयत्न करने वाली एक मानिनी की मूर्ति रची है जिसके वक्ष पर काला चित्र या गोदना अंकित है। नायिका मलयज लगाकर उस काले गोदने को मिटाने की चेष्टा करती है। इसी तरह वह सभी काली वस्तुओं पर रुष्ट होने के कारण चिबुक के तिल पर भी मलयज लगाकर उसे छिपा देती है—

> असित चित्र उर पर छल, मेटल मलयज देह लगाइ।
> मृगमद तिलक धोइ दुरं कल, कच सयँ मुख लए छपाइ ॥८॥
> एक नील छल चारु चिबुक पर निन्दि मधुप-सत सामा।
> तून अग्रं करि मलयज रंजल ताहि छपाओल रामा ॥१०॥
>
> —(बेनीपुरी, पद–१४५)

यहाँ प्रकारान्तर से 'असित चित्र' या गोदना की प्रथा को कवि ने संकेतित किया है।

(५) द्यूत-क्रीड़ा की प्रथा.-निम्नलिखित प्रसंग में जुआड़ी और पाशा का उल्लेख करके विद्यापति द्यूत की प्रथा से अपनी अभिज्ञता प्रकट करते हैं—"जाए खने दितहु आलिङ्गन गाढ। जनि जुआर पासे खेल पाढ॥" इसी तरह कवि बिहारी ने भी 'चौगान' खेल की चर्चा की है।

(ग) लोकोत्सव

विद्यापति ने लोक-जीवन के उत्सवों का भी वर्णन करके अपनी लोकधर्मी काव्य-चेतना का प्रमाण दिया है। प्राचीन भारत में विविध ऋतु-उत्सवों के आयोजन होते थे जिनमें वसंतोत्सव का स्थान सर्वोपरि था। प्राचीन साहित्य में इस वसंतोत्सव के बड़े ही ललित और स्वाभाविक वर्णन मिलते हैं। विद्यापति ने वसंत-शिशु के जन्म-प्रसंग में वसंत-पंचमी या श्रीपंचमी के उत्सव का जो रूपांकन किया है उसमें लोक-चित्त के हर्ष-विह्वल पक्ष का सम्यक् प्रकटीकरण हुआ है—'नाचए जुबति जना हरखित मन जनमल बाल मधाई हे।" कवि ने दूसरे स्थलों पर भी वसंतोत्सव के मादक चित्रण किए है।[1] उन्होंने फाग-क्रीड़ा का भी जमकर वर्णन किया है। शिव और विष्णु सपरिवार होली खेल रहे हैं, इसका अत्यंत ही सौमनस्यपूर्ण और आह्लादक अंकन प्रस्तुत पद में हुआ है—

---

१ द्रष्टव्य बेनीपुरी, पद—१७३ ।४, ६.८ ।तथा पद–१७२।

कत न भोरी सिदुरे भरलि भसमे भर बोकाम।
बसह कसरि मजूर मुसा चाम्हु पलु पलान॥
डिमिकि डिमिकि डमरू बाजए डसर खेलए फाग।
भसमे सिन्दुरे दुअओ खेडा एकहि दिवसे लागु॥
सभओं सिन्दुरे भरु सरुमिति लाओहि भरलि गोरा।
इसरे भसमे भरु नराएन पीत बसन बोरी॥
एके तओ नागट अआके उमत इसर धुथुर खाए।
अओके उमति खेडि खेलावए किछु न बोलए जाए॥
गरुड वाहन देव नराएन बसह चढु महेस।
भने विद्यापति कौतुके गाओल सञ्चहि फीरथि देस॥

—[प० प० भाग १, पद–२५६]

भस्म और सिन्दूर के झोले लेकर एक ही दिन धूलि या कीचड़ और रंग दोनों के खेल खेलनेवाले, नंगे, धतूरा खानेवाले और उन्मत्त शिव वस्तुत: होली की मस्ती के जीवित विग्रह हैं। यहाँ विद्यापति तत्कालीन होलिकोत्सव की इस परिपाटी को संकेतित करते हैं कि धूलि या कीचड़ और रंग के खेल एक ही दिन नहीं होते थे, किन्तु महादेव इस रीति का उल्लंघन करके होली के उत्साह को और भी बढ़ा देते हैं, कवि के वर्णन से यह भी विदित होता है। होली के अवसर पर नशे का सेवन और उन्मत्त-जैसी चेष्टाएँ करना आज भी लोक-विहित ही हैं। विद्यापति प्रमत्त एवं उन्मत्त शिव के होलिकोत्साह के वर्णन से जन-साधारण के उछाह को ही प्रकारान्तर से व्यंजित करते है।

विद्यापति नारायण और शूलपाणि की एकता के प्रतिपादक कवि हैं। इस अभेद-स्थापन की आवश्यकता कदाचित् लोक-जीवन मे विद्यमान भेद बुद्धि के कारण ही पड़ी होगी। ऐसा लगता है कि विद्यापति ने वैष्णवों के शंखों और शैवो के डमरुओं के विसंवादी स्वरो को लोक-हृदय की धड़कनो में सुना होगा जिसने प्रेरित होकर उन्होंने दोनो सम्प्रदायो को ऐक्य-सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया होगा। शैव और वैष्णव संप्रदायो के देवताओं मे वैमनस्य नहीं आत्मीयतापूर्ण संबंध ही है, यह दिखलाने के लिए ही विद्यापति ने शिव और विष्णु के होली खेलने का प्रभावशाली चित्रण किया है। नारायण और शिव को साथ-साथ सचरण करते देख विद्यापति को आनन्दयुक्त कौतुक ही होता है, कि दो विरोधी देव आज सभी प्रकारके मनोमालिन्य से मुक्त होकर क्रीड़ारत हो गए हैं। इस चित्र को उपस्थित करके विद्यापति यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि होली में लोग सभी प्रकार के वैर-भावो को विस्मृत करके एक-दूसरे से सौहार्दपूर्ण धरातल पर मिलते-जुलते हैं।

विद्यापति-पदावली की युवतियाँ वासती वातावरण में नानाविध आमोद-क्रीड़ाओं में व्यस्त दिखलाई पड़ती हैं। कवि ने चाँदनी से धुली रातों में मदन-आराधना, झूमर लोक-नृत्य [1] और गीत को संकेतित करके तत्कालीन मिथिला की उत्सवप्रियता का उद्घाटन किया है।[2]

एक अन्य पद में भी विद्यापति ने नृत्य और 'रास' का उल्लेख करके लोक-जीवन के मनोरंजनात्मक स्रोतों को ज्ञापित किया है।[3]

अपने प्रसिद्ध बारहमासा-वर्णन के अन्तर्गत विद्यापति ने 'सुखरात्रि' या दीपावली के लोकोत्सव को भी उल्लिखित किया है।[4]

'कीर्तिलता' में भी लोकोत्सवों का संकेत मिलता है—

सम्मान दान बिवाह उच्छव गीअ नाटक कव्वही ॥६१॥
आतिथ्य विनअ विवेक कौतुक समय पेल्लिअ सव्वहीं ॥६२॥
—(कीर्ति०२: डॉ० अग्रवाल)

यहाँ उत्सव, गीत, नाटक, खेल-तमाशे आदि लोक-मनोरंजन के ही संकेतक हैं।

'कीर्तिलता' में नक्षत्रानुसार होनेवाले हिन्दू-उत्सवों को 'नकत' कहा गया है और उसके साथ-साथ मुसलमानों के धार्मिक अनुष्ठान 'रोजा' का भी कवि ने उल्लेख किया है—"कतहु नकत कतहु रोजा ॥१६७॥"—
(कीर्ति० २। डॉ० अग्रवाल)।

(ङ) लोकोक्तियाँ

विद्यापति-पदावली की लोकोक्तियों के दो वर्ग दृष्टिगत होते हैं—(१) लोक-जीवनया लोक-साहित्य से गृहीत तथा (२) प्राचीन शिष्ट साहित्य से अपहृत। पहले वर्ग की लोकोक्तियाँ लोक-जिह्वा की सम्पत्ति हैं और दूसरे वर्गके सुभाषित विद्यापति केकाव्याध्ययनमूलक अर्थ-हरण के परिचायक हैं। अपने शोध-प्रबंध 'विद्यापति-पदावली के आकर—स्रोत' में मैंने ऐसी लोकोक्तियों सदुक्तियों का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि इन्हें कवि ने लोक-जीवन से नहीं प्राचीन आकर-ग्रन्थों से लेकर अपनी रचनाओं में जड़ दिया है।

'पदावली' के लोक-मुख से आयत्त सुभाषितों के भी दो प्रकार हैं—(१) सार्वदेशिक प्रकृतिवाले तथा (२) आंचलिक विशेषताओं से समन्वित।

इस वर्गीकरण को निम्नलिखित चित्र के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

---

१. 'झूमर' गा-गाकर नाचने का लोक-मनोरंजन मिथिला में आज भी प्रचलित है। यह नृत्य ही नहीं गीत भी है अतः इसे 'नृत्य गीत' के अन्तर्गत रखा गया है।
२. द्रष्टव्य बेनीपुरी, पद—२२२।
३. वही, पद—१८४।
४. सुख सुखराति सबहुँ का मेल। हमें दुखसाल सोआमि दय गेल ॥८॥
—(बेनीपुरी, पद—२०८)

विद्यापति की लोकोक्तियाँ

लोक-साहित्य से गृहीत,

शिष्ट साहित्य से हृत

सार्वदेशिक प्रकृति की,

आंचलिक,

सार्वदेशिक प्रकृति की लोकोक्तियों के उदाहरण ये हैं—१. गेल जउवन पुनु पलटि न आबए, केवल रह पचतावए, २. जे अनुपम उपभोग न आबए, की फल ताहि निहारि, ३. जे कर साहस ता हो सिधि, ४ दूधक माँछी दूती भेलि तथा ५. से नहि बिचल जकर जे जाति।

'पदावली' की आंचलिक लोकोक्तियों के कतिपय नमूने इस प्रकार उपस्थित किए जा सकते हैं—१. कोआ मूह न भनिअए वेद, २. छोट पानि चह-चह कर पोठी केनहिँ जान, ३. जइओ जकर मुह पेच सत, दुसए चाहए आन ('चलनी दूसलक सूप के जेकरा अपने सहस्सर छेद'–मिथिला की इस लोकोक्ति से तुलनीय), ४. झीमी कादब भेला (बात का बतंगड़ होना) तथा ५. पूब पछिम नहि जान।

शिष्ट साहित्य से हृत पदावलीय सुभाषितों के कुछ उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत हैं—१. आगि जारि पुनि आगिक काज (गाथासप्तशती, २।६३ तथा सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८।३।४३।२ में गृहीत), २. आदरे जानिअ आगिल काज (चारुदत्तम्, अंक २ में उपलब्ध), ३ कुदिना हित जन अनहित रे थिक जगत सोभाव (श्रृंगारशतक, ३४, हेम-व्याकरण, ४।४०६।३, चारुदत्तम्, १।५ आदि से), ४. रोपि न काटिए विसहुक गाछ (कुमारसम्भवम्, २।५५ में) तथा ५. हाथक काँगन अरसी काज (कर्पूरमंजरी–१ तथा चर्यापद, ३२ से)।

निश्चय ही 'पदावली' के सुभाषितों का एक प्रमुख स्रोत लोक या लोक-साहित्य है। लोकोक्तियों के विशाल मौखिक साहित्य से प्रभावित होनेवाले विद्यापति की अनेक लोकोक्तियों में जन-संस्कृति रूपायित हुई है। इन कहावतों का लोकतात्त्विक अध्ययन करने से सामाजिक जीवन के अनेक पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। विद्यापति की इन सूक्तियों में लोक-ज्ञान, व्यवहार-ज्ञान और जीवन के मार्मिक सत्यों का आकलन प्राप्त होता है। कवि ने मुख्यतः लोक-जीवन की कृत्रिमता[1] और जीवन की विवशता[2] के अनावरण के लिए ही जीवनानुभवों से संपृक्त लोक-सुभाषितों की योजना की है। इन सदुक्तियों के प्रयोक्ता विद्यापति सहज ही एक ऐसे नीति-कवि के रूप में दृष्टिगत होते हैं जो जीवन की असंगतियों और कुरूपता के समर्थ समीक्षक का दायित्व-निर्वाह करते हैं।[3] 'पदावली' की कहावतों के अनुशीलन से यह स्पष्ट विदित होता है कि इनमें लोक-मनोविज्ञान की अद्भुत परख के गुण संपुष्टित हैं।[4] इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि कवि ने कहावतों की कोरी उपदेशप्रवणता को अनेकत्र काव्यात्मक सौंदर्य के कलेवर में ही प्रस्तुत किया है।

लोक-संस्कृति के चित्रण की दृष्टि से विद्यापति की लोकोक्तियों में लोक-व्यवसाय और लोक-विश्वास से संबद्ध प्रभूत सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं। वाणिज्यजगत् की प्रकृति की परिचायिका इन उक्तियों में लोक-मानस की स्पष्ट प्रतिच्छाया देखी जा सकती है—

१. आदि अंत नहिं महथ पसार।
२ आरति गाहक महग बेसाह।

१, आडम्बर आदर हो सब तहु।—(वि० प० । न० गु० । पृ० ५१०)।

२, आनक वेदन नइ बुझ आन, कुदिना हितजन अनहित रे थिक जगत सभाव, धनिकक आदर सब तहँ होय, निरधन बापुर पुछ० न कोय रे। पक दार्ष आगि वस पानि आदि।

३, विद्यापति की आंचलिक लोकोक्तियों को इस प्रसंग में देखा जा सकता है—कुम्भी लककए जेहन पिरीति, नख छेदन के लाब कुठार, पिपिडी कौं जनो पाखि जनमए अनल करए भपान, बानर कण्ठे की मोतिम हार, बानर मुख की सोभए पान, सिआरका जनो मांग अनमए गिरि उपारए चाह, हम नहँ के विषहु आगर छौ दहु कौं विषभान आदि।

४. जिव जनो जनि निरधने निधि पाए खन हेरए खन राख सपाए, निरधनकौं जनो धन किछु हो करए चाहए उछाह आदि।

३. बएले रतन अधिक मुल होए।

४. मूल राख बनिजारा।

पहली उक्ति मे बाजार के उतार-चढाव का सटीक अध्ययन है तथा दूसरी केता के मानस पर प्रकाश डाला गया है। तीसरी उक्ति मे साहूकार इस प्रवृत्ति को विश्लिष्ट किया गया है कि वह विक्रय की सामग्री को दबा दुर्लभ बना देता है जिससे उसकी कीमत ऊपर की ओर भागती है। आधुनि पूँजीपति भी 'होर्डिङ्ग' के इस सिद्धान्त के कायल है। इसी तरह चौथ कहावत मे भी व्यापारी के ही मनोविज्ञान पर प्रकाश डाला गया है कि व अपने मूलधन पर अत्यंत चौकस रहता है। मिथिला मे इस उक्ति से मिलती-जुलती एक और कहावत चलती है —'मूर पलटू नाचे साव।'

विद्यापति की कतिपय कहावतों में जुलाहा, तेली, कुम्भकार आदि के व्यवसायो और कार्य-कलापों के लोकतात्त्विक संकेत भी मिलते हैं जिनसे मिथिला के लोक-जीवन के चाक्षुष बिंब उभर कर सामने आते हैं।[१]

'पदावली' की लोकविश्वासमूलक कहावतों मे शकुन, तंत्र-मंत्र आदि के जो लोक-तत्त्व प्रकट होते है वे 'लोकवार्त्ता' के प्रमुख प्रतिपाद्य ही हैं। पीछे हम विद्यापति की उन सूक्तियो पर विचार कर चुके हैं जिनमे बनिया की बोहनी के शकुन, अकेले तारे को देखने के अपशकुन, छींक से यात्रा बिगड़ने के विश्वास तथा सर्प-विष से सम्बन्धित अनुश्रुतियों के संचयन प्राप्त होते है।

'पदावली' के कई सुभाषितो में सामाजिक जीवन के यथार्थ की खरी अनुभूति भी पाई जाती है। 'परक दुआरे करह जनु काज। परक दुआरे करिअ जओ काज, अनुदिन अनुखने पाइअ लाज।।"—(न० गु० । पद-३१)—इस कथन मे पराश्रित भृत्य-वृत्ति की अपमानमूलक कुण्ठा को वाणी दी गई है। सामाजिक जीवन में दूसरो के दरवाजो पर डोलनेवालों की प्रताड़नापूर्ण स्थिति को प्रकट करने मे यह कहावत पूर्णत: सफल है। मिथिला मे इसी भाव को व्यक्त करनेवाली एक और लोकोक्ति प्रचलित है—"पर घर खइनी पेटही नाँव। पर घर मुतनी मुतनी नाँव।।" 'पदावली' की एक अन्य सूक्ति मे भी चाकरी की निकृष्टता और चाकर की अतृप्त सामाजिक दशा का चित्रण प्राप्त होता है—'भाँड छुइल नहि भरले पेट'—(वि० प० १ ७० भा० परिषद्, पद—६२)। कवि ने यहाँ जूठन मलने पर भी पेट के

---

१. ओछेओ जाति जोलहा जओ ओल धरि नहि मुलए सेओ, तेली बलद थान भर देषिअ पालब नहि उजिआड, नर मूते गहि काट कुम्भर आदि

नहीं भरने का संकेत दिया है। इस आंचलिक कहावत का कुलीन पात्र अपकर्म करके भी अपना उदर पोषण नहीं कर पाता है, यह तत्कालीन समाज-व्यवस्था की क्षोभकारी अनुभूति ही है। मिथिला मे इस आशय की एक और कहावत का प्रचलन है --'जातो गमइली, भातो न खइली'।

'पदावली' की नारी संबधी लोकोक्तियों में नारी-जाति के प्रति असम्मान—भावना का प्रकटीकरण हुआ है जिससे तत्कालीन समाज में नारियों की हीन और कदर्थित दशा का पता चलता है।[1]

कहा जा चुका है कि विद्यापति लोक-साहित्य ही नहीं शिष्ट साहित्य की सूक्तियों के रत्नाकर के भी मरजीवा हैं। वे केवल लोक-मुख की संतरणशील सरस्वती के ही ऋणी नही, नागर साहित्य की सूक्तियो के भी ग्राहक हैं। 'पदावली' के कवि ने केवल जन प्रचलित उक्तियो से ही अपने वक्तव्यों को स्पष्ट नहीं किया है अपितु परम्परागत साहित्य की रही हुई लोकोक्तिवेषी सूक्तियों को भी आत्मसात् कर लिया है। ये सदुक्तियाँ लोकोक्तियों के समान ही जान पड़ती हैं किन्तु वस्तुत: इनके पुरस्कर्त्ता विद्यापति के पूर्ववर्त्ती कवि हैं। विद्यापति इन चमत्कारप्रवण सूक्तियों को साहित्यिक रिक्थ के रूप में ग्रहण करके अपनी रचनाओं का मण्डन करने वाले है। इन प्राचीन और समाम्नातपूर्व सदुक्तियों को विद्यापति ने कहीं तो यथावत् ले लिया है और कहीं-कहीं इन्हे मार्जित करके भी ग्रहण किया है। उनका सूक्ति-हरण सदैव और सर्वत्र 'प्रतिबिम्बकल्प' ही नही है, यत्र-तत्र सूक्तिकार विद्यापति की मौलिकता भी दृष्टिगत होती है। 'पदावली' के ये सुभाषित विद्यापति को एक नीति कवि के रूप मे भी प्रतिष्ठित करते है। निश्चय ही प्राचीन साहित्य की सूक्तियो का अपने काव्य में सन्निवेश करने वाले विद्यापति केवल अपने काव्य-ज्ञान को ही प्रकट नहीं करते है बल्कि हिन्दी-नीति-काव्य-परम्परा को भी पुष्ट और समृद्ध करनेवाले सिद्ध होते हैं। 'पदावली' की इन सूक्तियो मे नीति-काव्य की उपदेशात्मकता तो है किन्तु इनमे सौष्ठव, चारुत्व और लालित्य भी कम नही है। जीवनानुभवों से संपृक्त इन साहित्यिक सुभाषितों में केवल चमत्कार और काव्यत्व की ही उपलब्धि नही होती है बल्कि विद्यापति-पदावली की लोकप्रियता ने इनमें लोकोक्तियाँ बनने की क्षमता भी भर दी है। 'पदावली' की अनेक साहित्यिक सूक्तियाँ या तो प्राचीन लोकोक्तियाँ ही है या उनमे लोकोक्तियों के रूप में लोक-जिह्वा पर चढ़ने की शक्ति आ गई है।

---

१ उकत चरित वड विपरीत कुमर केन्दु पर सरल कान हम कुमल कुमारल न कुमल अन्तर नारि नादि

विद्यापति की लोकाश्रित कल्पनाओं का मूल्यांकन

'विद्यापति-पदावली' मिथिलांचलिक लोक-जीवन के विश्वसनीय चित्रागार की मर्यादा की अधिकारिणी सिद्ध होती है। निश्चय ही 'पदावली' के प्रस्तुत अध्ययन से हम तत्कालीन लोक-प्रवाह की विविध तरंगों से परिचित होते हैं। विद्यापति के साक्ष्य पर हम ऊँख, करैला,[1] कुम्हड़ा और मूली की पैदावार; कुईं, पाँड़रि और मधुरी पुष्पों, कुंभी-कुईं से आच्छादित डाबरों; ढोढ़ साँप और अँधेअ, पोठी आदि मछलियों; चौंचा, पेच, बगुला, डाहुक[2] आदि पक्षियों; फूस के छप्परों एवं 'फलकी' वाले घरों; कुम्हार, खेतिहर, जुलाहा, तेली, नाविक एवं मछलियों के शिकारी मल्लाहों, बनिया, माली आदि पेशेवर जातियों; चलरिजा, जुआड़ी, फाँसी लगाने में दक्ष वधिक, महावत आदि निम्न-स्तरीय लोगों; चहल-पहल से भरे बाजारों; रूपहाट के दलाल; गतयौवना रूपाजीवा एवं कुट्टनी; सूद और मुनाफा पर पलने वाले महाजन, न्यायकर्त्ता पंच; कानों में अतिशय आभूषण पहनने से 'कनलटकी' बनी अमीर औरत,[3] गोदना-भूषिता सुन्दरी; बटमारों;[4] डायन, गारुड़ी; देवदेयासिनि तथा बन्दूक,[5] 'टना' एवं सूप[6] के प्रयोक्ताओं वाली उस मिथिला का प्रत्यक्षीकरण करते हैं जो जन्म, विवाह, पूजन, युद्ध, श्राद्ध आदि लोक-कृत्यों के आचारों; बाल-वृद्ध विवाह, पर्दा, सती आदि प्रथाओं; वसंतोत्सव, होली, सुखरात्रि आदि उत्सवों और नानाविध लोकविश्वासों में लीन तथा झूमर, रास आदि नृत्यों में जीवन की श्रांति को प्रवाहित करती-सी प्रतीत हो रही है।

इसमें कोई वैमत्य नहीं है कि 'पदावली' के अनुशीलन से विद्यापति-कालीन समाज और जीवन-पद्धति पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है किन्तु ज्ञातव्य है कि विवेच्य ग्रंथ में लोक-संस्कृति के उपकरणों की यह खोज केवल समाज-विज्ञान,

---

१. दूबे पटाइअ सालिम लीन, सहज न बेंजए करइला तीत।—(न० गु० पद—६३९)।
२. निडर डर-डर डाक डाहुक।—(बेनीपुरी, पद—२००)।
३. पन्ना सुनेअ सोऊ महादेइ कनक लाबेओ कान।—(परिषद्-पदावली, १।८३)।
४. एकहि नगर बस माधव हे, जनु कर बटमारी।—(बेनीपुरी, पृ० ८६)।
५. निडर डर डर डाक डाहुक छुटत मदनबनूक।—(बेनीपुरी, पद—२००)।
६. गरल परसि रह मुमाएल सूप भरि के आन।—(परिषद्-पदावली, १।८३)।

इतिहास और लोक विज्ञान की दृष्टियों से ही नहीं की गई है, वरन् विद्यापति की इस लोकनिष्ठता का साहित्यिक मूल्यांकन ही लेखक का मुख्य उद्देश्य रहा है।

विद्यापति ने अपने लोक-ज्ञान को 'अविचारित रमणीय' काव्य के रूप में ढालकर जिस 'परिचयबहुलता' का प्रमाण दिया है वह उनके साहित्यिक दृष्टिकोण को प्रकट करने वाली है।

काव्याध्ययन विद्यापति को शिष्टपक्ष रचने वाला दक्ष कवि बनाता है और शास्त्राध्ययन उन्हें परम्परावादी पण्डित कवि का पद प्रदान करता है किन्तु लोक के अवेक्षण से वे प्रयोगशील स्वच्छन्दतावादी कल्पक की प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। उनके लोक-प्रसूत बिंबों और प्रतीकों में आधुनिक प्रयोगवादियों की तरह नवीनता के वैचित्र्य नहीं, नवरता, प्रभावक्षम मार्मिकता और ताजगी के उल्लास-जन्य नन्दाजिक मूल्यों की उपलब्धि होती है। काव्य और शास्त्र के चर्वित-चर्वण से ऊबकर कवि विद्यापति जब लोक-भूमि पर सञ्चरण करते हैं तब उनकी प्रतिभा जड़ता से मुक्त होकर नवीन अर्थ-लोक में पदार्पण करती है और अछूते बिंबों का अशेष वैभव उनके काव्य-मुकुर में प्रतिच्छायित होने लगता है।

विद्यापति के अप्रस्तुतों के स्रोत द्विविध हैं—शास्त्रीय और लौकिक। उनके शास्त्रीय उपमान काव्यशास्त्र और कवि-परम्परा का अनुगमन करनेवाले अथच गतानुगतिक हैं। लोकोन्मुख कवि विद्यापति रूढ़ और परम्परागत उपमानों का अतिक्रमण करके अनेकत्र निजी निरीक्षण के आधार पर भी बिंबों का चयन करते हैं। 'क्लासिकल' उपमानों की तुलना में बृहत्तर लोकजीवन और प्रकृति के विविध क्षेत्रों से संकलित ये नव्य उपमान कवि की रूमानी मनोवृत्ति के परिचायक हैं।

रूढ़ उपमानों को विद्यापति ने काव्याध्ययन और कवि-परिपाटी के अनुशीलन से आयत्त किया है। इस तरह के उपमानों के कई सूची-पत्र प्राचीन कवि-शिक्षा-परम्परा के ग्रन्थों में रहे होंगे, जिनमें से कुछ तो आज उपलब्ध हैं और बहुतेरे लुप्त हो चुके हैं। उन तालिकाओं को देखने से पता चलता है कि इनसे बुभुक्षु कवियों का बहुत उपकार होता रहा होगा। विद्यापति के समक्ष ऐसी कई तालिकाएँ रही होंगी जिनका सम्यक् उपयोग उनकी रचनाओं में देखा जाता है, किन्तु यह विद्यापति की साहित्यिक मूल्य-चेतना है कि इन निश्चित और परिनिष्ठित अप्रस्तुतों को आलंकारिक ढंग से उपन्यस्त करने में ही वे अपने कवित्व की इयत्ता नहीं समझते हैं। वे इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं हैं कि साहित्य में परम्परायुक्त उपमानों की अपेक्षा नवीन हृदयावर्जक कल्पनाओं का महत्त्व होता है और 'कवि-यशःप्रार्थी' के लिए बिंबों एवं प्रतीकों की

पुनरुक्तियाँ श्रेयस्कर नहीं होती है-। 'पदावली' के पाठकों से यह छिपा नहीं है कि अपने कई पदों में लोक-जीवन से अस्पृष्ट चित्रों के चयनकर्ता विद्यापति घिसे-पिटे अप्रस्तुतों की तालिकाओं का प्रत्याख्यान करके अलौकपन्थी कवित्व की स्थापना करते हैं। लोकाश्रित कल्पनाओं के प्रणेता विद्यापति परम्परागत वर्णन की वचनीयता से मुक्त होकर अन्यतम मौलिक कवि की महत्ता की प्राप्ति के लिए स्थापित प्रतिमानों को निस्सार करनेवाले नूतनिकरण के साहस का प्रदर्शन करने के कारण परवर्तियों के लिए अनुकरणीय हो जाते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

इस मान्यता में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है कि लोकपरक मौलिक बिंबों के धारक विद्यापति केवल चित्रधर्मी काव्य-प्रणेता ही नहीं अनुच्छिष्ट 'अछिछल'-काव्य-रस से वाणी-मंदिर की वेदिका को प्रक्षालित करनेवाले भी हैं। विद्यापति की लोकाश्रित कल्पनाओं में यदि केवल नवीनता ही होती तो वे आलोचक की आराधना की अधिकारिणी नहीं होतीं किन्तु हर्ष का विषय है कि कवि की योगशील प्रतिभा सहजता और मार्मिकता को ही नवीनता का निकष मानकर चलती है जिससे निर्बाध रस-सिद्धि के विधायक महाकवित्व का निर्वाचन स्वतः हो जाता है।

इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि विद्यापति की प्रतिभा जब जीवन के वैषम्य और अनौचित्य की आलोचना के लिए कृतसंकल्प होती है तब वह स्वभावतः लोकाभिमुखी हो जाती है। बेमेल विवाह कुट्टनी आदि के वर्णन-क्रम में तो लोकचेता विद्यापति सामाजिक जीवन की निर्द्वन्द्व आलोचना करते ही हैं किन्तु प्रणयादि इतर संदर्भों में भी औचित्य का उल्लंघन देखकर वे लोक-उपमानों और लोकोक्तियों के द्वारा उनकी 'कान्तासम्मित' ताड़ना को तत्पर हो जाते हैं। वे जब व्यंग्य करने की मनोदशा में होते हैं तब बेधक लोक प्रतीकों की भाषा में ही अपने वक्तव्यों की सुस्पष्ट और प्रभाव-पुरस्सर प्रस्तुति करते हैं, यह एक प्रत्यभिज्ञेय तथ्य है।

विद्यापति जब किसी दुर्गुण-संपन्न दोषावह व्यक्ति को दूसरे की कदर्थना करते देखते हैं तब इस अनौचित्य से क्षुब्ध होकर 'पेच' पक्षी[1] तथा डाबर की कुईं के चित्र सामने ले आते हैं। पेच-जैसे कुरूप और हास्यास्पद पक्षी का समानधर्मा व्यक्ति दूसरे का दूषण करने का अधिकार नहीं रखता है; उसे सबसे पहले आत्मालोचन करना चाहिए; किंतु विद्यापति इस लोक-मनोवृत्ति

---

१ अप्पो बकर मुह पेच सन दूसए चाहए आन

को जानते हैं कि लोग अपने दोष को अपने नहीं देखते हैं अपनहु न देख अपनुक देह ।[१] सचमुच अपना टेंटर अपनी आँखों से अलक्षित ही रहता है। कमल-भ्रमण-रसिका कुईं के लोक-संपृक्त बिंब के द्वारा भी लोक-जीवन के इस लाछनीय प्रसंग का ही आख्यान 'पदावली' में प्राप्त होता है। डाबर की कुईं यदि झील के कमल की निंदा करती है तो कवि का औचित्य-बोध आहत हो जाता है। कौलीन्य-गर्व के कवि विद्यापति जन्मजात नीच के द्वारा जन्मजात उच्च की भर्त्सना में सामाजिक जीवन के औचित्य का अतिक्रमण देखकर अपनी काव्यात्मक खीझ को प्रकट करते हैं।

विद्यापति को जब क्षुद्रजनों के मिथ्याभिमान पर चोट करने की इच्छा होती है तब वे विषगर्वस्फीत ढोढ़, पंखवाली चींटी,[२] पर्वत उखाड़ने के इच्छुक शृगाल[३] तथा स्वल्प जल में भी चहचहानेवाली पोठी मछली[४] के लोक प्रतीकों को योजित करते हैं जिससे उनके कथ्य में अत्यंत ही मनोरम वक्रता का सन्निवेश हो जाता है। इसी तरह मानव-प्रकृति के पारखी महाकवि भद्र-भंजक पिशुन-चरित्र की असंगति और अनौचित्यमूलक क्षुद्रता के निरसन के लिए मुख-मुग्धार्थ पटोर को काट देनेवाले झींगुर के व्यंग्यात्मक लोक-प्रतीक[५] का रसात्मक विन्यास करके शिवेतर के क्षय से संबद्ध अपने लोक-मंगलवादी दृष्टिकोण को उद्भासित करते हैं।

'उचितानुचित-विवेक' से रहित व्यक्ति पर विद्यापति का उमड़ा हुआ आक्रोश प्रायः आंचलिक लोकोक्तियों के माध्यम से फूट उठता है। काँच-कंचन, गुंजा-रत्न और नीर-क्षीर को एक ही पलड़े पर तौलनेवाला अविवेकी जब उनके व्यंग्य का पात्र बनता है[६] तब वह उनके सूक्ति-वचन के कौशल से निश्चय ही मर्माहत और लज्जित हो जाता है। कुपात्र की प्रतिष्ठा भी उनके अनुसार अनौचित्य ही है जिसके उपहास के लिए वे मौक्तिक-माल्य पहने एक

---

१. वि० प० । न० गु० । पद—४७७ ।

२. पिपिही कौं जओ पाखि उपजए, अनल करए झपान ।—[न० गु० पद—२१६]।

३. सिआरका जओ मांग जनमए, गिरि उपाडए चाह । —[न० गु० । पद—२१६] ।

४. थोड़ पानि चह-चह कर पोठी, के नहिं जान ।

५. मुख मुरी झिंगुर काट पटोर ।

६. काँच कंचन न जानए मूल ।
गुंजा रतन करए समतूल ॥४॥
जे किछु कभु नहि कलारस जान ।
नीर खीर दुहु करए समान ६ बेनीपुरी पद ३८

ताबूल से अधर रँगे वानर के लोक-प्रतीक का अवतरण करते दृष्टिगत होते हैं।[1]

मामूली काम के लिए महान् उद्यम के समारंभ मे भी 'उचितानुचित-विवेक' का अभाव ही लक्षित होता है। इस पर रससिक्त फब्ती कसते हुए विद्यापति नख काटने मे व्यस्त कुठार का चित्र प्रस्तुत करते है।[2]

होम करते जब हाथ जलता है तब जीवन की इस उल्टी गगा मे विपण्ण होकर विद्यापति शक्कर खाने से टूटनेवाले दाँतों का चित्रांकन करके अपनी जिस रसपेशल आलोचना शैली का परिचय देते है[3] वह औचित्य-विषयक जीवन-मूल्यों से ही प्रभावित है।

विद्यापति की नायिकाएँ और दूतियाँ जब प्रेम-प्रसंगों में उपालभ देने और व्यग्य करने की मुद्रा मे आती है तब लोक-प्रतीको का ताँता ही लगा देती है। उनके अनुसार बुरा प्रेमी तेली के बैल की तरह है जो 'पालो' का कर्त्तव्य-भार संभालने मे सक्षम नही है। आरभ मे इस कुपात्र में ही सत्पात्र का भ्रम हो जाता है किन्तु अन्तत. कार्य की परख से वास्तविकता का पता चलता है। इसी भाँति निष्ठारहित प्रिय के छिद्रान्वेषण-क्रम में नायिका चठैल और परवल के तुलनात्मक प्रतीकों की योजना करके नकल एव असल के परिज्ञान से उत्पन्न पश्चात्तापमूलक आत्मालोचन मे डूब जाती है। इस सदर्भ मे हम उस नायिका को भी नही भूल सकते है जो हृदय के कपटी और वचन के प्यारे नायक पर 'कुसियार' का आरोप करके अपने उपालंभ का प्रदर्शन करती है।

क्षणस्थायी प्रणयानुबध पर व्यग्य करते हुए विद्यापति उसे मूली की तरह भग्न हो जानेवाला प्रतिपादित करते है। इसी प्रकार कृत्रिम, बाहरी और भ्रष्ट प्रीति को वे कुभी-जल-न्याय तथा खर-कुम्हड़ा-न्याय से अपने व्यग्य-प्रहार का विषय बनाते है। कुम्भी जलाशय के जल पर छाकर भी उससे प्रकृत्या विलग ही नही उसके व्यक्तित्व की भ्रष्टता का कारण भी होती है तथा कुम्हड़े का प्यार भी फूस के छप्पर की जीर्णता एवं उसके ध्वंस का विधायक ही सिद्ध होता है।

---

१. (क) वानर-कठ कि मोतिम माल। \ वानर-मुँह की सोभए पान।।

—[बेनीपुरी, पद—९७]।

(ख) सदा रतन भेंट नहि जान

वान्दर मुह न सोभए पान।। —[वि० प० १।। रा० सा० प०। पद-११२]।

२. नख छेदन के लाब कुठार। —[न० गु०। पद—३८९]।

३. साँकर खाइते भाँगए दांत। —[न० गु०। पद—४८१]।

इसी क्रम में गमनरति पर ठिठोली करते हुए विद्यापति कुम्हड़ के चोर को अनावश्यक शासनत्व का लौकिक प्रसंग उपनिबद्ध करके अपनी परिहास-प्रियता का परिचय देते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि उनकी परिहासात्मक प्रवृत्ति से प्रसूत लौकिक बिंबों में अकृत्रिम लोक-जीवन की सहज-सरल उत्फुल्लता की अद्भुतपूर्व दीप्ति दृष्टिगत होती है।

अबोध नायिका के शील-हरण पर व्यंग्यगर्भित इंगित करते हुए 'अंगेज मछली' का लोक-प्रतीक लाकर विद्यापति अपने अभिव्यंग्य को अतीव पठनीयता प्रदान कर देते हैं। 'पदावली' के अध्येताओं को यह अविदित नहीं है कि विद्यापति के लोक-प्रतीकों का साधारणीकरण लोक-जीवन में व्यंग्य-भावना की साहित्यिक क्षमता और सम्प्रेषित चित्रों की प्रामाणिकता के समीकरण का ही सहज परिणाम है। विद्यापति-साहित्य में गतयौवना रूपाजीवा के शरीर के लिए हाट की सूनी दुकान के संगत प्रतीक और परित्यक्ता पुंश्चली के लिए धँसवाड़ी की हाँडी का प्रभविष्णु बिंब भी आक्रोश की मनोदशा में ही घटित हुए हैं और उनके साधारणीकृत होने में कोई भी बाधा नहीं है।

केवल नारीजनोचित कोप-प्रदर्शन में ही विद्यापति की बिंब-योजना का लोकाश्रित स्वरूप दृष्टिगत नहीं होता है बल्कि नारी के व्यवहारों से क्षुब्ध होकर भी वे लोक-प्रतीकों की उपालंभव्यंजक भाषा में बोलते हैं। नारी के टेढ़े हृदय के लिए टकुए[1] के लोक-उपमान और उसकी भ्रूलता के लिए फाँसी की रस्सी[2] के चित्र-द्वारा वे उसके पीड़क चरित्र पर क्षोभ ही प्रकट करते हैं।

सुतरां, 'पदावली' की लोकाश्रित कल्पनाओं की इस विचिकित्सा से विदित है कि विद्यापति के लोकधर्मी प्रतीक आलोचना, उपालंभ, खीझ और नोक-झोंक की कोख से उत्पन्न हुए हैं। महाकवि जहाँ भी जीवन-रस के विघातक अनौचित्य को देखते हैं वहाँ वे लोक बिंबों के संयोजन से साहित्यिक संघर्ष छेड़ देते हैं, फलतः उनका अनौचित्य-दलन का प्रयास रस-क्षरण का सफल नियामक हो जाता है। उपालंभ भी अनौचित्य-बोध की ही प्रतिक्रिया है, अतः कवि के उपालंभाश्रित लोक-प्रतीकों में भी औचित्य-रक्षण के उत्साह के कारण अजस्र रसमयता का ही संचार होता है।

किंबहुना, "पदावली" में लोकाश्रित कल्पनाओं के विनियोग के उद्देश्य मौलिकता की स्थापना और जीवनगत असंगतियों की आलोचना हैं, जिनकी परिणति रसवादी मूल्यों की सिद्धि में होती है।

---

१. साजनि तेजलि वचन रोष। टकुआ सन हिय सोभ्रो कालि मानसि बाढ़ विशेष॥
—(वि० प० ।१।८४ । रा० भा० परिषद्)

२. भौंह लता बड़ देखिअ कठोर। फाँसे आँजि फासि गुन ओर।
—(वही, पद—२०४)

